जड़ के भीतर विवेकवान चेतन

श्रीराम शर्मा आचार्य

"जड़ के भीतर विवेकवान् चेतन"

✦

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०– २५३०२००

✦

पुनरावृत्ति सन् २०१०   मूल्य : २१.०० रुपये

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ**

प्रकृति की रचना की परिपूर्णता मानव के चमत्कारिक विकास का एक ऐसा तथ्यपूर्ण स्पष्टीकरण है, जो जन-जीवन को अभिभूत कर देती है। प्रकृति की व्यवस्था अन्यतम है। जड़ प्रकृति के भीतर चेतना की क्रमबद्ध व्यवस्था का ऐसा चरम विकास मौजूद है, जिसकी झलक पाकर आज का भौतिक विज्ञान यह मानने के लिए बाध्य हो गया है कि उसे संपूर्णता के एक अंश का भी परिपूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो पाया है और प्रकृति के बहुत-से रहस्य आज भी अनजाने हैं।

प्रकृति की प्रत्येक रचना परिपूर्ण

■

प्रकृति ने प्रत्येक जीव को उसकी दुनिया के हिसाब से परिपूर्ण बनाया है। उसे देखकर मनुष्य यह विश्वास करने को विवश होता है कि हर चेतना का निर्माण किसी उच्च चेतना के गहन चिंतन-मनन के बाद होता है। लीमर जीव जब अपने शरीर की सफाई करता है, तो उसके बहुत-से बाल दाँतों में फँस जाते हैं। उस बेचारे को जिंदगी भर इस परेशानी का सामना करना पड़ता, यदि रचयिता ने उसकी जीभ के नीचे एक दूसरी छोटी कंघीनुमा जीभ नहीं लगाई होती। इसकी सहायता से वह फँसे हुए बालों को निकाल लेता है, यदि इस सहायक जीभ को नहीं लगाया गया होता, तो बेचारे का मुँह न जाने कब का सड़ जाता।

माना कि मनुष्य की रचना परमात्मा की पूर्ण विकसित कला है, किंतु यदि सांसारिक जीवन की सुख-सुविधाएँ भी अभीष्ट हैं, तो उस दृष्टि से अन्य जीवों को भी छोटा नहीं कहा जा सकता। घोंघे को अपना आहार खुरचकर खाना होता है, इसलिए उसकी जीभ में प्रकृति ने दाँत लगाए हैं। इन दाँतों की संख्या १२०० से १४००० तक होती है।

अनातीदी जाति के पक्षियों में प्रकृति ने उनके पंखों के नीचे कुछ ऐसी ग्रंथियाँ बनाई हैं, जिनसे तेल निकलता रहता है। उसके कारण ही उनके पंखों का विकास होता है तथा वे चिकने और स्वस्थ बने रहते हैं। एक प्रयोग में एक बतख की तेल उत्पादक ग्रंथि को ऑपरेशन करके निकाल दिया गया, तो उसके पंख कुछ ही दिनों में झड़ गए। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रकृति स्थानीय परिस्थितियों में प्रत्येक जीव के अनुरूप संरचना का ध्यान पहले से पहले रखती है। इस दृष्टि से मनुष्य निर्माण पर गर्व प्रकृति या परमात्मा करे तब तो उचित भी है, मनुष्य का अहंकार करना तो उसकी तुच्छता ही है। १०० फुट लंबी ह्वेल का कुल वजन १२५ टन

के लगभग होता है। इसके शरीर में ३५ टन चर्बी और ७० टन मांस होता है, यदि उसे हाथियों से तोला जाए, तो दूसरे पलड़े पर २० से २५ हाथी तक चढ़ाने पड़ जाएँ। अकेले उसकी जीभ ३ टन और २ मन वजन का दिल होता है। जो ८ टन खून की नियमित सफाई में दिन-रात लगा रहता है। इसके लिए उसके फेफड़े एक बार में १४००० लिटर वायु खींचते हैं, नवजात ह्वेल शिशु का वजन ही ६ टन होता है और उसकी वृद्धि १ क्विंटल प्रतिदिन के हिसाब से होती है। कोई मनुष्य इतना बड़ा विकास स्वेच्छा से कर सकता है क्या ? व्यायाम से कोई किंगकांग, दारासिंह और चंदगीराम हो सकता है, पर ह्वेल बनाने का काम परमात्मा का ही हो सकता है। अतएव सर्वोपरि कलाकार के रूप में वंदनीय वही है, मनुष्य नहीं।

बीटल-कीटक की आँखों पर प्रकृति ने एक चश्मा भी चढ़ा दिया है। ऊपर की आँखों से वह हवा में देखता है, किंतु जब यह पानी में चला जाता है तब नीचे की आँखों से देखने लगता है। हम समझते हैं, हमारे पास ही इतनी बुद्धि है कि लेंस लगाकर आँखों की बीमारी ठीक कर लें, पर प्रत्येक परिस्थिति के अनुरूप साधन इकट्ठे करने हों, तो इतने विशालकाय संसाधन आवश्यक होंगे कि उनके वजन से दबकर ही मनुष्य मर जाए। अपनी परिपूर्णता बाहर नहीं, अंदर खोजी जाए, तब तो कोई बात है। बात ही नहीं, मनुष्य के भीतर जो सर्वांगपूर्ण सृष्टि भरी हुई है, उसे खोजा जा सके तो मनुष्य को बाहर कुछ पाने की आकांक्षा ही न रहे।

कुछ भालुओं को ताड़ी के नशे की आदत पड़ जाती है, तो उनको बार-बार ताड़ी के पेड़ों की तरफ जाना पड़ता है। ताड़ी पीकर भालू झूमने लगते हैं। उनके पाँव लड़खड़ाने लगते हैं, शिकारी इस स्थिति का लाभ उठाकर, उसी प्रकार जा धमकते हैं—जिस तरह नशेबाज मनुष्य को बीमारियाँ दबोच लेती हैं। भालू का शिकार भी इस स्थिति में अत्यंत सुगम हो जाता है। अतएव वे इस ताक में रहते हैं कि कब कोई भालू किसी ताड़ में लगे और मिट्टी के बर्तन को फोड़कर वे ताड़ी पी मदमस्त हो। मनुष्य को

भी लगता है, उसी तरह सुखों को बाहर खोजने का नशा हो गया है। उससे संभव है, कुछ समय कीं मस्ती तो हाथ लग जाए, पर शिकारी के हाथों पड़ जाने वाले भालू की तरह अंततः मनुष्य भी दुर्देव का ही ग्रास बनता है। तब फिर उसकी शोभा क्या रही ?

मनुष्य ने बिजली बना ली, पर अपने भीतर की बिजली को तो वह जान भी नहीं सका। ह्वेल मछली का तो नाम ही "इलेक्ट्रिक ह्वेल" है, जिसके नाम से ही उसके विद्युत् जनरेटर होने का पता चलता है। इस विद्युत् शक्ति का उपयोग वह शिकार करने में करती है। वह इसके एक झटके से तैरते हुए घोड़े को भी गिरा देती है।

"इलेक्ट्रिक रे" या "टारपीडो फिश" का विद्युत् भाग पीठ पर होता है। इसमें कितनी अधिक विद्युत् शक्ति होती है, इस संबंध में जेराल्ड ड्यूरेल नामक जीवविज्ञानी का एक संस्मरण उल्लेखनीय है। वे यूनान की एक घटना के हवाले से बताते हैं कि एक लड़का त्रिशूल से मछलियों का शिकार किया करता था, एक दिन उसने अपना निशाना इस मछली को बनाया, किंतु त्रिशूल ने जैसे ही मछली का स्पर्श किया इतना जबर्दस्त झटका उसे लगा कि एक भयानक आवाज के साथ वह पानी में जा गिरा। उसे इतना जबर्दस्त विद्युत्-शॉक लगा था कि घंटों बाद उसे होश आया।

सात-आठ फुट लंबा २।-३ मन वजन का शुतुरमुर्ग संकट के समय बालू में सिर घुसेड़ लेने की मूर्खता के लिए ही विख्यात नहीं है, तेज दौड़ने की गति के लिए भी प्रसिद्ध है। इसकी दौड़ने की गति प्रायः ६० मील प्रति घंटे की है। इसकी चोंच का प्रहार इतना तीक्ष्ण होता है कि लोहे की चादर में भी छेद हो जाता है। इसकी पाचन शक्ति भी ऐसी होती है कि कठोर से कठोर वस्तु भी खाकर पचा लेता है। लगता है यह बीमारी मनुष्य को भी है, तभी तो कुछ भी इकट्ठा करते रहने की तृष्णा उसे अहर्निश पीड़ित किए रहती है। वास्तव में यह शुतुरमुर्ग की तरह रेत में मुँह छिपाने की तरह की मूर्खता है, जबकि मृत्यु निरंतर पास आती रहती है। उसके लिए

जो पूर्व तैयारी की जा सकती थी, मूर्खतावश मनुष्य उससे वंचित बना रहता है।

संरचना की दृष्टि से तो एक मक्खी भी मनुष्य से कम रहस्यपूर्ण नहीं। उसे देखकर कलाकार की कला पर आश्चर्य होता है। उसके पाँव में एक विशेष प्रकार का स्राव होता है। मक्खी जहाँ बैठी यह स्राव उस स्थान पर चिपका और उस स्थान की भोजन सामग्री को पैरों से ही चूस कर सारे शरीर में पहुँचा दिया। उसकी आँखें प्रकृति की विलक्षण रचना है। इस पर भी उसकी लगभग ८०००० जातियाँ पृथ्वी पर तब से विद्यमान चली आ रही हैं, जब मनुष्य भी नहीं आया था। इसके पंख अत्यधिक कुशल संतुलन तो बनाए रखते ही हैं, वह उनसे ही इंद्रियों की बोध क्षमता का लाभ लेती है, कोई भी यांत्रिक ऐसा यंत्र नहीं बना पाया, जो जिरास्कोप का भी काम कर सके, हिचकोले भी ले सके। उसके पंख सीधे मस्तिष्क के ज्ञान-तंतुओं से संबद्ध होते हैं, जिससे वह तुरंत परिस्थिति के अनुरूप इनसे काम ले लेती है।

जीवन का नाम यदि पेट और प्रजनन ही हो, तो मक्खी बनने में ज्यादा लाभ है। मादा मक्खी एक ही बार में १२५ से लेकर पाँच हजार तक अंडे देती है। मनुष्य के शरीर का विकास तो लंबी अवधि के बाद होता है, पर मक्खी के शरीर में ऐसा न जाने क्या तंत्र है कि यदि उसे ५ माह की भी जिंदगी मिल जाए, तो वह इसी अवधि में ५०००००००००० (पाँच खरब) बच्चे पैदा कर देगी। यही नहीं, यदि एक ही जोड़ा पितामह बनने तक जीवित बच जाए, तो वह इतनी संतान पैदा कर देगा जिससे ६ माह में ही सारी पृथ्वी में ५० फुट ऊँचा विशालतम ढेर लग जाएगा। यह तो उसकी क्षुद्र प्रवृत्ति ही है कि वह जितनी वंश-वृद्धि करती है, काल उतना ही उसे चबेना बना डालता है और यह बताता रहता है कि जो भी जीव पृथ्वी का भार बढ़ाने का प्रयास करेगा, उसका भी अंत इन्हीं की तरह शत्रुओं से, अकाल मृत्यु और रोग-शोक से घिरा हुआ

रहेगा, उसे अन्यत्र कुछ सोचने-विचारने, प्रगति करने का तो अवसर ही मिलता कहाँ है ?

मक्खियाँ धरती के लिए ही नहीं, हर जीव के लिए भार हैं। उन्हें स्थान नहीं मिलता तो कुछ हवा में ही अंडे दे देती हैं। कुछ भेड़ों के थूथन पर अंडे देती हैं। कुछ उड़ती हुई मधुमक्खियों की पीठ पर अंडे देकर अपना प्रयोग तो पूरा कर लेती हैं, पर यह प्रयोग अंततः उसके ही वंश-नाश का कारण बनते हैं। अधिक प्रजनन-कम आयु का सिद्धांत—चाहे मक्खी हो या मनुष्य सर्वत्र एक-सा है। मक्खी का बच्चा ६ दिन में ही विकसित हो जाता है और १० दिन में ही मर जाता है। कुछ ही मक्खियाँ ज्यादा दिन जीती हैं, पर उनकी प्रजनन क्षमता उतनी ही कम होगी। इतनी वंश-वृद्धि आखिर जियेगी तो प्रकृति के सीमित साधनों को नष्ट करके ही जियेगी। कनाडा की "पाइन-सा" मक्खियाँ प्रति वर्ष हजारों एकड़ भूमि की उपज हजम कर जाती हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार मुर्गियों के विनाश का मूल कारण यह मक्खी ही है, जिसके छोटे-से पंख में एक लाख से अधिक रोग कीटाणु होते हैं। संख्या का गंदगी से अन्योन्याश्रित संबंध है, गंदगी का बीमारी से। मनुष्य जीवन का वर्तमान लेखा-जोखा उसी का नमूना है, यदि यह क्रम न रुके, तो अगले दिनों हर मनुष्य एक लाख विषाणुओं की प्रयोगशाला बन जाए, तो कोई आश्चर्य नहीं। आज तो मक्खी प्रति वर्ष हजारों मनुष्यों को अंधा कर देती है, तब मनुष्य मनुष्य को ही जीवित खाने लग सकता है। मनुष्य स्वयं बढ़ सकता है—आखिर पृथ्वी तो नहीं बढ़ सकती, साधन तो उस अनुपात का साथ नहीं दे सकते।

यदि यह विवेक न हो तो मनुष्य उतना ही उपहासास्पद है, जितना सुरीनाम टैड। उसकी अंडे देने और उनको सेने की क्रिया बहुत ही विलक्षण होती है—मादा अपने अंडे अपनी पीठ पर डालती जाती है। अंडा खाल में कुछ इस तरह धँस जाता है कि ऊपर एक और खोल ढक्कन की तरह चढ़ जाता है। इसी तरह सारे अंडे

पीठ में ही पकते रहते हैं। विकसित होने पर जब ये बच्चे फुदक-फुदककर बाहर निकलते हैं, तो किसी नीहारिका के विस्फोट से बनने वाले ब्रह्मांडों की कल्पना साकार हो उठती है। यह बच्चे थोड़े ही समय में स्वेच्छाचारी जीवन जीते और मनुष्य को यह बताते हैं कि यदि प्रजनन उद्देश्यपूर्ण न हुआ तो वह मेरी तरह भार ही होगा।

उल्लू जैसा मूर्ख समझा जाने वाला पक्षी कितनी विलक्षणताओं से परिपूर्ण है, उसकी कल्पना करते ही प्रकृति की सचेतन कलाकारिता पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। कहते हैं कि उल्लू रात का राजा होता है। वस्तुतः उसे रात में दिखाई नहीं देता। इस कमी की पूर्ति के लिए प्रकृति ने उसे ऐसे कान दिए हैं, जिनमें एक विचित्र ढक्कन लगा होता है। यह पूरी तरह कान को ढकता नहीं। जब कोई ध्वनि उल्लू के पास आती है, तो पहले उसे वह ध्वनि एक कान से सुनाई देती है, पीछे कुछ क्षणों के बाद दूसरे से। बस श्रवण के इस अंतर को ही वह फटाफट गणित में बदलकर यह पता लगा लेता है कि आवाज किस दिशा से तथा कितनी दूर से आई है। मनुष्य जो कि प्रकृति का परिपूर्ण प्राणी माना जाता है, उसे भी इतने संवेदनशील कान न मिलने का दुःख हो तो कुछ आश्चर्य नहीं, जिससे वह और नहीं तो पृथ्वी के घूर्णन की, ग्रहों के चलने और सौर घोष जैसी ध्वनियाँ तो सुन ही लेता, यदि ऐसा हो सका होता, तो निःसंदेह उसके चिंतन और दृष्टिकोण में आज जो संकीर्णता भरी हुई है वह नहीं ही होती।

सुप्रसिद्ध जीवशास्त्री जान एच० टाड ने एक बार मछलियों पर एक प्रयोग किया। मछलियाँ एक नियत समय पर अपने सामान्य निवास से चलकर किसी विशेष स्थल में जाकर अंडे देती हैं। विकसित होने के बाद उनके बच्चे स्वयं ही अपने माता-पिता की जन्म भूमि को लौट आते हैं, वे किस बौद्धिक सूझ-बूझ और अंतःप्रेरणा से ऐसा करती हैं, यह जानने के लिए ही यह प्रयोग किया गया था। प्रयोग के समय जहाँ मछलियाँ थीं, उस स्थान को

घेर दिया गया और उस स्थान का संबंध एक कुँए से जोड़ दिया गया। ऐसा करने पर भी वे मछलियाँ कुँए की ओर नहीं गईं, अपितु उस रासायनिक संकेत के सहारे ही समुद्री धारा में बढ़ने लगीं, जिधर उन्हें अंडे देने जाना होता है। अपने स्थान पर लौटने या नए स्थान जाने के अतिरिक्त भी मछलियों की एक रासायनिक भाषा होती है, जिससे वे सजातियों को सामाजिक व्यवस्था की जानकारी देती रहती हैं।

जन-समुदाय को कोई चेतावनी या सूचना देनी हो तो ढोल पीटकर मुनादी की प्रथा प्रचलित है। कदाचित् कोई दीमकों के सूक्ष्म जीवन पर दृष्टि डाले, तो उसे यह जानकर आश्चर्य हुए बिना न रहेगा कि यह परंपरा उनमें भी पाई जाती है। सैनिक दीमक को जब किसी शत्रु का पता चलता है, तो वे एक विशेष ध्वनि से अपने कुनबे को संकेत कर देते हैं। बात की बात में सारे दीमक नगर को सूचना हो जाती है और वे सब के सब अपना माल, असबाब बाँध कर दूसरे आश्रय के लिए चल पड़ते हैं।

विवेक बुद्धि मिल जाने पर मनुष्य चाहे तो गर्व कर सकता है, पर इतना होने पर भी जब वह जीवन की गुत्थियाँ नहीं सुलझा पाता, तो उसकी इस बुद्धिमत्ता पर तरस आता है।

कला-कौशल और अपनी बौद्धिक सामर्थ्य से आज मनुष्य ने धरती, वायु, आकाश सर्वत्र अपनी कीर्ति-पताका फहरा दी है, किंतु यदि इतने मात्र को ही श्रेष्ठता का मापदंड मान लिया जाए, तब तो पशु-पक्षी उससे इक्कीस ही बैठेंगे, उन्नीस नहीं। आज मनुष्य ने तरह-तरह के विमान विकसित कर लिए, पर जीवों के सदृश क्षमताएँ अभी भी उसे उपलब्ध नहीं। उड़ने को अमेरिका की कुछ गिलहरियाँ भी उड़ लेती हैं। मलाया, सिंगापुर की छिपकली और साँप उड़ानों के लिए विश्व प्रसिद्ध हैं। एक समय था जब टेरोडक्टाइल नामक विशालकाय सरीसृप उन्मुक्त आकाश में उड़ते थे, तब तक तो मानवी सभ्यता अस्तित्व में भी नहीं आई थी। इस

तरह उड़ान का श्रेय राइट बंधुओं को नहीं, अपने इन छोटे कहे जाने वाले भाइयों को ही देना पड़ेगा।

"एक्सोसिटायडी" मछलियाँ मनुष्य की तरह पारिवारिक जीवन बिताती हैं। ये सदैव समूह में रहतीं, एक-दूसरे के हितों का ध्यान रखतीं, प्रसव-जैसी कठिन परिस्थितियों में एक-दूसरे की सहायता करती हैं। यही नहीं, यह अपने बच्चों को पेड़ों पर चढ़ाकर उन्हें विधिवत् उड़ना भी सिखाती हैं। इस तरह यह समूचा समुदाय उड़न-दस्तों की तरह ही जीवनयापन करता है। कुछ मछलियों को तो प्रकृति ने पीठ ही नहीं, पेट में भी पंख अर्थात् चार-चार डैने प्रदान किए हैं। इनमें पेलभिक मछली अत्यंत कुशल उड़ाका होती है। यह अपने पीठ के कंधों से "ग्लाइडर" का काम लेती है और किसी विशेष स्थान में ठहरना चाहें, तो पंखों को लहराती हुई ठहर भी जाती है। इतनी उन्नत किस्म तो मानवीय यानों ने भी अभी नहीं पाई। मनुष्य ने तो उड़ान के तरीके लगता है "हैचेट" तथा "बटरफ्लाई" मछलियों के ही करतब देखकर सीखे हैं, अपने पंखों के सहारे वे पहले पानी में ही प्रचुर वेग लेकर ऊपर उड़ जाती हैं। जावा में एक मेंढक पाया जाता है, यह भी उड़ता है। "गरनार्ड" मछली इन सबसे उन्नत किस्म की उड़ाका होती है। ये अपने पंखों के सहारे पानी में तैर भी सकती है, सतह पर संतरण भी कर सकती है और उड़ तो सकती ही है। उड़ान में तो मनुष्य मक्खी से भी हार मानता है, सिफेनेमिया जाति की मक्खी ८१६ मील प्रति घंटा की भयंकर गति से उड़ने में सक्षम है।

प्रगति और आत्मरक्षा के लिए जड़ता का आश्रय एक दिन जीवन चेतना को ही जड़ बना दे, तो कुछ आश्चर्य नहीं। स्पंज और मूँगे जीव हैं, किंतु वे इसी ताक में रहते हैं कि कहीं उन्हें कोई चट्टान, काई का ढेर या रेत मिल जाए, तो बस वे उसी से चिपक कर जड़ हो गए, उनकी मूल चेतना का विनोद समाप्त हुआ। वे न वैसे जीवन का आनंद ले सकते हैं, न विविधापूर्ण सृष्टि के विहंगावलोकन का। मस्सेल, ओइस्टर, ड्रिल बारनकल इसी श्रेणी के

जीव हैं, जिन्होंने अपनी दुनिया सीमित कर ली है और व्यापक दृष्टि से वंचित हो गए हैं। मनुष्य जाति भी कुछ इसी तरह होती जा रही है। जड़ता के अनुसंधान के साथ-साथ चेतन मन की संवेदना और उसकी भावनाएँ बुरी तरह नष्ट होती जा रही हैं। उसकी मैत्री भावना, करुणा, दया और उदारता नष्ट होती जाती और इंद्रिय लिप्सा इन जीवों की तरह बढ़ती रहती है।

मनुष्य के सहयोगी भी

पशु-पक्षियों को पालतू और प्रशिक्षित बनाने का प्रयास किया जाए, तो वे हमारे लिए साधक न रहेंगे वरन् सहयोगी के रूप में काम करके हमारी समृद्धि और शांति में सहायता प्रदान करेंगे। उन्हें नष्ट करने पर उतारू न रहकर यदि मानवी प्रयत्न अन्य प्राणियों को प्रशिक्षित करने में लग जाएँ, तो न केवल प्राणिमात्र के बीच सद्भावना का विस्तार हो सकता है, वरन् विश्वव्यापी चेतना तत्त्व को अधिक गति से विकास की दिशा में बढ़ चलने का अवसर भी मिल सकता है। प्राणियों को प्रशिक्षित करने के लिए जहाँ भी प्रयत्न हुए हैं, वहाँ आशाजनक सफलता मिली है।

संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न आकृति-प्रकृति के वानर पाए जाते हैं। अफ्रीका का गुयेरेजा कोलोवस बंदर शरीर में तो तीन फुट का ही होता है, पर उसकी पूँछ शरीर से भी अधिक लंबी अर्थात् साढ़े तीन फुट होती है। हाथी जो काम सूँड़ से लेता है लगभग वैसा ही यह पूँछ से लेता है। दक्षिणी अमेरिका के हाउलर वानर का स्वर बहुत तीखा होता है, दो मील दूर तक उसकी आवाज सुनी जाती है और क्रोध, हर्ष, पीड़ा, कामोन्माद आदि की अनुभूतियाँ उसकी वाणी से सहज ही पहचानी जा सकती हैं। दक्षिणी अमरीका के अमेजन क्षेत्र में पाए जाने वाले सिवाइड्स वानर, गिलहरी और उल्लू की आकृतियों के सम्मिश्रण से बने हुए अपने ढंग के अनोखे प्रतीत होते हैं।

निशाचर डोरोकोलिस, लंबी दाढ़ी वाला साकी देखने में सुंदर और अकल का पुतला केपूचिन मनुष्य के साथ कुत्ते की तरह ही

घुल-मिल जाता है। वह बर्तन धोना, कपड़े सुखाना, झाड़ू लगाना, बिखरी चीजों को सँभालकर रखना, पंखा झलना, घर की रखवाली जैसे छोटे-मोटे घरेलू काम करने में मालिकों की सहायता करता है। ड्राइंग का अभ्यास करा दिया जाए, तो वह खड़िया हाथ में लेकर सीखी हुई आकृति बिल्कुल सही बना देता है। बूली बंदर पर भेड़ जैसी ऊन होती है। मकड़ी की तरह हाथ-पैर और पूँछ के सहारे यह एक डाली से दूसरी डाली पर उल्टी-सीधी चाल से चढ़ता-उतरता और उछलता रहता है, इसलिए इस वानर का नाम स्पाइडर मंकी पड़ा है। गले की अतिरिक्त थैली में ढेरों फालतू आहार भर कर फिरते रहने वाले बंदर बोर्नियो में अधिक होते हैं। पूर्वीय गोलार्ध में पाए जाने वाले मैकेक और रहसीस जीवनी शक्ति और संतुलित मानसिक क्षमता वाले होते हैं। अंतरिक्ष उड़ान में एक समय इन्हीं का उपयोग किया गया था। कुत्ते जैसे मुँह वाले बेवून अरब देशों में पाए जाते हैं, वे पेड़ पर चढ़ने की अपेक्षा जमीन पर रहने में सुख, सरलता अनुभव करते हैं।

जर्मन प्राणिशास्त्री कोलर ने अपने पालतू चिंपाजी 'सुलतान' की बुद्धिमत्ता बढ़ाने के लिए उसे कितनी ही गुत्थियाँ सुलझा सकने और अड़चनों का सही हल निकालने के लिए प्रशिक्षित किया था। वह अलमारी खोलकर अपने काम की चीजें निकालता और फिर बंद कर देता था। लंबे बाँस के सहारे ऊँची टँगी हुई चीजें उतारना उसे अच्छी तरह आता था। ऐसे ही वह और भी कई बुद्धिमानी के काम करता था।

मैडम कोट्स का पालतू चिंपाजी रंगों के भेद-उपभेद समझता था और प्रायः तीस तरह के हल्के गहरे रंगों का वर्गीकरण कर लेता था। रेखागणित की आकृतियों को पहचान लेने में भी उसने कुशलता प्राप्त कर ली थी। क्यूबा में मादाम अब्रू के पास एक विनोदी चिंपाजी था। वह जब पुरुषों को पास आते देखता तो अपनी मादा को फौरन छिपा लेता, किंतु कोई स्त्री पास आती तो मादा को प्रसन्नतापूर्वक फिरने देता।

गोरिल्ला वनमानुषों में अग्रणी है। उसकी ऊँचाई छह फुट होती है, किंतु दोनों हाथों को मिलाकर लंबाई नौ फुट तक जा पहुँचती है। वजन ४०० से ६०० पौंड। यह दो-ढाई इंच मोटी लोहे की छड़ आसानी से तोड़-मरोड़ कर फेंक सकता है। इसकी पकड़ में किसी जानवर का कोई अंग आ जाए, तो उसे एक ही झटके में उखाड़कर फेंक सकता है। संसार प्रसिद्ध फिल्म 'किंगकांग' में प्रमुख करतब एक भीमकाय गोरिल्ला का है। इस फिल्म को अत्यधिक ख्याति मिली।

इस जाति का दूसरा वानर चिंपाजी अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान् होता है, उसकी हर क्रिया से बुद्धिमत्ता और विचारशीलता टपकती है। अकारण उसे बेतुकी हरकतें करते नहीं पाया जाएगा। परिवार भी उसका व्यवस्थित रहता है। एक नर के साथ कई मादाएँ सुख और सुरक्षापूर्वक जीवनयापन करती हैं। पालतू चिंपेजी के साथ कभी पेचीदगी भरी स्थिति उपस्थित कर दी जाए, तो वह उसे सहज ही सुलझा लेता है।

जर्मनी में कुछ समय पूर्व एक विश्वविख्यात घोड़ा था—'क्लेवर हॉर्स'; वह जर्मन भाषा में पूछे गए गणित के छोटे-मोटे प्रश्नों का उत्तर अपनी टाप के खटके मारकर देता था और दर्शक उसकी गणितज्ञ बुद्धि को देखकर चकित रह जाते थे। अमेरिका और फ्रांस में भी इस तरह के कई घोड़े हो चुके हैं। इनकी बुद्धिमत्ता जाँचने के लिए पशु मनोविज्ञानी थार्नडाइक ने गंभीर अध्ययन किए हैं कि बुद्धि पर मनुष्य की ही बपौती नहीं है, वह बीज रूप में दूसरे जीवों के भीतर भी मौजूद है और यदि उन्हें उपयुक्त अवसर मिले, तो वे अपनी बुद्धिमत्ता को बड़ी हद तक विकसित कर सकते हैं।

तंजानिया (अफ्रीका) में पशु अभियंता मि० जार्ज के मकान के पास ही पेड़ पर एक गिलहरी ने घोंसला बना रखा था। संसर्ग के प्रभाव से इस गिलहरी ने अपने में ऐसी आदतें उत्पन्न कर ली थीं, जिसमें देखने वालों को बड़ा कौतूहल होता था। शराब का चस्का

उसे लग गया था। वह चुपके से आती और घर में रखी शराब की बोतलों के कार्क खोलकर मद्य पान का आनंद लेती। यह गिलहरी प्रायः अपना भोजन इस परिवार से ही प्राप्त करती थी, अस्तु उसे समय और स्वाद का अभ्यास हो गया था। नियत समय ही वह भोजन करती और जो वस्तुएँ खाने की शिक्षा दी गई थी, उन्हें चुनकर ग्रहण करती। उसने 'कमोड' में ही टट्टी जाना सीख लिया था। जब भी उसे मल त्यागना होता, नियत स्थान पर जाकर अपनी हाजत पूरी करती—इधर-उधर मल-विसर्जन करते उसे कभी नहीं देखा गया।

मास्को के एक इंजीनियर आनातोली वाइकोव ने दो कबूतरों को मशीनों के अच्छे और खराब पुर्जे पहचानने और उनका अंतर बता सकने की शिक्षा दी। इस पहचान का आधार त्रुटिपूर्ण पुर्जों से अलग ढंग के ऐसे कंपनों का निकलना था, जो बहुत ही संवेदनशील मशीनों से पहचाने जा सकते थे। कबूतर उस अंतर को समझने में अभ्यस्त हो गए, अपने पालने वालों की अच्छी सहायता करने लगे।

वाइकोव ने लिखा है—प्रशिक्षित कबूतर जिस बारीकी से यांत्रिक खराबी को पकड़ सकते हैं, उतनी जानकारी देने वाले निर्दोष उपकरण बहुत ही कठिनता से बनाए जा सकेंगे।

शिशुमार नामक मत्स्य जाति जल का बहुत ही प्रेमी और सहयोगी प्रकृति का होता है। प्रयत्न करने पर वह मनुष्य के साथ हिल-मिल जाता है और खुशी से पालतू बनकर रहने लगता है। जापानी मत्स्य विशेषज्ञ मसाइकी नहाजमा का कथन है कि—"यदि शिशुमार थलचर होते, तो वे मनुष्य के लिए कुत्तों से भी अधिक स्नेही-सहयोगी सिद्ध होते।" वे अपने परिवार के साथ बहुत ही सज्जनता भरा व्यवहार करते हैं।

शिशुमार कोई तीस तरह की ध्वनियाँ अपने मुख से निकाल सकते हैं और उनके आधार पर अपनी मनःस्थिति का दूसरों को परिचय दे सकते हैं। शिकार पकड़ने के लिए दौड़ते समय वे कुत्ते

की तरह भौंकते हैं, सफल होने पर बिल्ली की भाँति म्याऊँ-म्याऊँ करके खुशी जाहिर करते हैं। पेट भरने पर वे डकार लेते हैं, चटाख की ध्वनि के साथ होंठ चाटते हैं। विरोधियों को डराने के लिए पटाखा चलने जैसी आवाज करते हैं।

सिखाने पर वे कई तरह के खेल करते हैं। सीटी बजाने पर उसका जवाब सीटी बजाकर देते हैं। शिशुमार को 'सिटासियन' वंश का ह्वेल जातीय समझा जाता है। दिशा बोध और शब्द-ज्ञान की उसे अच्छी जानकारी होती है। २५ गज दूरी से फेंकी हुई वस्तु को वह इस तेजी से पकड़ सकता है, मानो उस वस्तु के साथ ही वह उड़कर आया हो। समुद्री खोज के लिए गहरे सागर तल में बने हुए अमेरिका खोज केंद्र—सी लैब-२ के लिए एक कुशल कार्यकर्ता के रूप में पालतू शिशुमार 'टैफी' ने असाधारण सहायता की थी। थके हुए गोताखोरों को उनकी कमर में बँधी रस्सी मुँह से पकड़कर जहाज तक पहुँचा देने में भी पालतू शिशुमार बड़ा कौशल दिखाते हैं। वे मनुष्य की तरह हँस भी सकते हैं।

ब्रिटिश नौ सेना से रिटायर होकर नीरेफौक के विचिंघम स्थान में फिलिप वेयरे ने अपने आठ एकड़ के खेत में घरेलू चिड़ियाघर बनाया। उसका उद्देश्य पशु-पक्षियों की प्रकृति का अध्ययन और उनकी नस्लों को सुंदर-सुविकसित बनाने का मार्ग खोजना था। अपने विषय में रुचिपूर्वक तन्मय हो जाने के कारण वेयरे ने दुर्लभ पशु-पक्षी प्राप्त किए और उनकी प्रकृति के बारे में नई-नई जानकारियाँ प्राप्त कीं। चिड़ियाघर की ख्याति फैली तो दर्शकों के झुंड भी अपने कौतूहल की तृप्ति के लिए वहाँ आने लगे और टिकट की आमदनी से चिड़ियाघर का खर्च चलने में सहायता मिलने लगी।

रीछ और भेड़िए किस प्रकार सज्जन बनाए जा सकते हैं और बिदकने वाले पशुओं को विश्वस्त एवं स्नेही कैसे बनाया जा सकता है ? इस प्रयोग में उन्होंने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है।

वेयरे की तत्परता ने उन्हें संसार के अनुभवी प्राणि विशेषज्ञों की पंक्ति में ला बिठाया। वे ऐग्लिया टेलीविजन कंपनी में प्राणि विशेषज्ञ की भूमिका में कितने ही कौतूहलवर्धक कार्यक्रम देते रहे। 'विंड इन दी रीडस्' नामक प्रख्यात फिल्म में उन्होंने प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक प्राणियों के विकास और विनाश का महत्त्वपूर्ण चित्रण किया है, वेयरे मात्र पशु-पक्षियों के शोधकर्ता, प्रयोक्ता मात्र नहीं हैं वरन् "प्राणिमात्र के साथ मनुष्यों को अधिक अच्छा व्यवहार करना चाहिए," योरोप में इस आंदोलन के सूत्रधार भी रहे हैं। उनकी पत्नी 'पैट' इस कार्य में उनका भरपूर सहयोग करती रहीं।

मत्स्य विशेषज्ञ स्टेटर ने विभिन्न प्रकार के संगीत के मछलियों पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों का पर्यवेक्षण किया है। कुछ ध्वनियाँ तो मछलियों को इतनी प्रिय लगीं कि वे उन्हें सुनकर उछलने-कूदने और नाचने लगतीं, कुछ ध्वनियाँ उन्हें बिल्कुल पसंद न आईं और वे जब बजतीं, तो उपेक्षापूर्वक मुँह मोड़कर अन्यत्र चली जातीं। संगीत की विभिन्न ध्वनियों ने उनके शरीर पर भी भिन्न और विचित्र प्रभाव डाले। एक प्रकार के संगीत ने तो उनका वजन और विस्तार बढ़ाने में बहुत सहायता की। एक ध्वनि के कारण उनकी प्रजनन क्रिया दूनी हो गई तथा कहीं अधिक अंडे दिए।

डॉ० फ्रेंक वाडन ने मछलियों को रंग पहचानना सिखाया और यातायात के नियमों का अभ्यास कराया, वे अपने मालिक और दर्शक का अंतर करना सीख गईं। मिनो जाति की मछलियाँ यह समझने लगीं कि किस प्रकार की आवाज सुनकर उन्हें क्या आचरण करना चाहिए ?

प्रो० जे० पी० फ्रोलोफ ने मछलियों को संगीत सुनने का शौकीन बनाने में सफलता प्राप्त की है। वे तालाब में बिजली के तार डालते और संगीत के रिकार्ड बजाते रहे। आरंभ में मछलियों ने थोड़ा ही ध्यान उस ओर दिया; किंतु धीरे-धीरे उसकी पूरी शौकीन हो गईं। जैसे ही संगीत की ध्वनि होती, वे चारों ओर से

वहीं इकट्ठी हो जातीं और ध्वनि केंद्र को लपकने का प्रयत्न करतीं।

उन्होंने एक तालाब में कुछ मछलियाँ पालीं। भोजन नियत समय पर दिया जाता और चारा डालने से पूर्व घंटी बजाई जाती। थोड़े दिन में घंटी और चारे का संबंध वे समझ गईं और जब भी समय-कुसमय घंटी बजती, तभी वे चारे के लिए दौड़कर इकट्ठी हो जातीं।

पशु-पक्षियों को अपने ही प्राणि परिवार का सम्मानित सदस्य समझकर उन्हें सुखी-समुन्नत और प्रशिक्षित बनाने की दिशा में यदि हमारी प्रवृत्ति मुड़ सके, तो न केवल जीव-जगत् का उपकार होगा वरन् मानवी उदारता और सद्भावना का एक सुखद अध्याय प्रारंभ होगा। विश्व चेतना में सदाशयता की वृद्धि करने के प्रयास करके मनुष्य घाटे में नहीं वरन् नफे में ही रहेगा। नए सहयोगियों का नया सद्भाव पाकर मानवी प्रगति में नया उभार ही आयेगा।

❑ ❑

प्रकृति की जीवन व्यवस्था

■

दृश्य प्रकृति में जो कुछ भी है, अच्छी और बुरी दो प्रवृत्तियों में बँटा हुआ है। जीवन की सूक्ष्मतम अवस्था जीवाणु का अध्ययन करें, तो एक दूसरा तथ्य भी उपस्थित होता है—वह यह कि अच्छाइयाँ और बुराइयाँ किसी और की देन नहीं, यह तो स्वयंभू हैं। मनुष्य का अपना देवत्व ही अच्छी प्रवृत्तियाँ विकसित कर लेता और उनके सत्परिणामों से लाभान्वित होता है, जबकि उसका अंतः-पिशाच ही दुष्प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट हो उठता और न केवल उसका अपितु दूसरों का भी सर्वनाश करके छोड़ता है। जीवाणु अर्थात् देवत्व की शक्ति, प्रति जीवाणु या विषाणु असुरता का प्रतीक है।

सेल्यूलोज आवरण से आच्छादित तरल प्रोटोप्लाज्मा से बने जीवाणु किसी भी स्थान पर नमी आदि पाकर स्वयं ही जन्म ले लेते हैं। यह इतनी सूक्ष्म सत्ता है कि एक इंच की लंबी लकीर में इन्हें पंक्तिबद्ध खड़ा किया जाए, तो २५,००० जीवाणु बड़े मजे में खड़े हो जाएँगे। इतने आदमी एक पंक्ति में खड़े किए जाएँ और यह माना जाए कि एक व्यक्ति औसतन १ फुट जगह लेगा, तो कुछ आदमियों के लिए ५ मील लंबी सड़क आवश्यक होगी। देवत्व सूक्ष्म तत्त्व है, अनुभूति के लिए वैसी ही सूक्ष्म बुद्धि, दूरदर्शी समीक्षा चाहता है, यह न हो तो मनुष्य सामान्य स्वार्थ को ही उस श्रेणी में मानकर उसके लाभों से वंचित हो सकता है।

विषाणु तो उससे भी सूक्ष्म और प्रभावी सत्ता है। एक इंच में यह १४१००० आसानी से बैठ सकते हैं—अर्थात् यदि वह आदमी बराबर हों और यह माना जाए कि उनमें से प्रत्येक को १ फुट ही जगह चाहिए, तो २६ मील सड़क की आवश्यकता होगी। तात्पर्य यह हुआ कि बुराई की शक्ति अत्यंत सूक्ष्म है। वह कब आ धमके,

यह पता लगाना भी कठिन है, जब तक कि उतनी ही पैनी और सूक्ष्म निरीक्षण बुद्धि न रखें।

जीवाणु जल में भी होते हैं और इस रूप में वे लोकसेवी हमारे जीवन के पोषक के रूप में काम करते हैं। मिट्टी में पड़े मल और सड़न को बैक्टीरिया ही खाकर उसे अच्छी मिट्टी में बदलते रहते हैं। देव-प्रवृत्तियाँ भी इसी तरह अपने को बढ़ाने में सहायक होती हैं। साथ ही वह सृष्टि के उच्छिष्ट तत्त्व सड़ाकर सबको नष्ट कर स्वच्छ, पवित्र वातावरण बनाती हैं, जिससे सर्वत्र सुख-शांति और प्रसन्नता बढ़ती है। जीवाणु १० या २० मिनट में ही अन्य जीवाणुओं को जन्म देने लगते हैं और २४ घंटे में १,७०,००,००० जीवाणुओं में परिणत हो जाते हैं। देवत्व एक क्षण के लिए भी उदित हो तो दूरगामी शांति और व्यवस्था की नींव गहरी जमा जाता है।

दूसरी ओर विषाणु है, जो जीवाणु के ही पैरों में लगा चला आता है। बुराइयाँ सदैव छद्म वेष में देवत्व के बाने में आती हैं अन्यथा उन्हें स्थान ही न मिले। इसलिए अच्छाइयाँ जहाँ हमारे जीवन को अभीष्ट हैं, वहीं सतर्कता भी उतनी ही आवश्यक है। इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि अतिथि और मित्र बनकर आए परिजनों में ही कहीं कोई अपनी दुविधा और भ्रम का लाभ उठाकर कोई चोर उचक्का तो नहीं आ धमकता।

दूध में पड़ा बैक्टीरिया उसे दही बना देता है। देवत्व और श्रेष्ठ व्यक्तियों की संगति समाज को भी उसी तरह सुंदर बना देती है, जैसे दूध की अपेक्षा दही अधिक सुपाच्य हो जाता है। अपने जीवन में छोटी से छोटी वस्तु का उपयोग है। यदि हम भलाई के हर कण को अपनाने की कला सीख जाएँ, तो हर किसी के आदर और विश्वास के पात्र बन सकते हैं, पर विषाणु जहाँ भी पहुँच जाएँ, वहीं बीमारी पैदा कर दें अर्थात् बुराई के कर्म ही नहीं-विचार भी हमारे पतन का आधार बन जाते हैं।

जीवाणु तथा विषाणु दोनों की ही संचार और विस्तार व्यवस्था बड़ी व्यापक है, पक्षियों के परों में लिपटे जहाजों में चढ़कर यात्रियों के माध्यम से भी ये एक स्थान से, एक देश से, दूसरे स्थान-दूसरे देश में पहुँच जाते हैं और सर्वत्र महामारी की स्थिति पैदा कर देते हैं। कुछ न मिले तो हवा ही उनके लिए उपयुक्त वाहन है। इसी से ये कहीं भी जा पहुँचते हैं। अच्छाइयों और बुराइयों का क्षेत्र भी उसी तरह सर्वत्र खुला पड़ा है। स्वाध्याय के माध्यम से हम अर्वाचीन युग के देवत्व को भी अपने वर्तमान जीवन में बुला सकते हैं और नाटकों, फिल्मों से भी अच्छे बनने की प्रेरणा ले सकते हैं। दूसरों के अच्छे आचरण हमारे जीवन दीप बन सकते हैं और उनकी शिक्षाएँ भी वही प्रेरणा दे सकती हैं। बुराइयों के लिए भी ठीक यही स्थिति है। बुलाएँ तो मन ही मन से करोड़ों मनोविकार आमंत्रित कर लें। दृढ़ता हो तो दृष्टि में पड़ने वाली कुत्सा भी अंदर झाँकने न पाए।

हमारे भीतर आसुरी प्रवृत्तियाँ जड़ न जमा पाएँ उसके लिए उन्हें मारने की मुहीम जाग्रत् रखनी चाहिए। एंटीबायटिक औषधियाँ जिस तरह शरीर में पहुँच कर वहाँ के विषाणुओं को चारों ओर से घेरकर रसद मार्ग काटकर उन्हें आत्मघात को विवश करती हैं, उसी तरह आत्म सुधार के लिए हमें प्रलोभनों को मार भगाने का, बुराइयों से लड़ने का माद्दा अपने अंदर से ही पैदा करना चाहिए। यदि ऐसा कर लें तो वह हमारी उसी तरह हानि नहीं कर सकतीं, जिस तरह हॉस्पिटलों में टी० बी०, कैंसर आदि के मरीज भरे पड़े रहते हैं। स्वाभाविक है कि वहाँ विषाणुओं का सरोवर लहरा रहा हो, किंतु उसी वातावरण में डॉक्टर लोग दिन-दिन भर काम करते रहते हैं। फिर भी उनका रत्ती भर भी अहित नहीं हो पाता।

दैवी अंश प्रबल हों, तो वह सशक्त जीवाणुओं की तरह शरीर की ढाल का कार्य करते हैं। उससे असुरता हावी नहीं होने पाती, आत्म सुधार की सबसे अच्छी प्रक्रिया यह है कि हम निरंतर रचनात्मक विचारों को मस्तिष्क में विकसाएँ, रचनात्मक कार्य करते

रहें, उससे बुराइयाँ अपने आप ही झाँककर लौट जाती हैं। जिस घर में पहले ही समर्थ लोग रहते हों, वहाँ चोर-उचक्के झाँककर ही लौट जाते हैं।

लेकिन यदि सीलन, सड़न, गलन अपने भीतर ही हो तो कमजोर भले-मानस को भी सशक्त बदमाशों द्वारा सताए जाने की तरह बुराइयों को पनपने का भीतर ही आधार मिल जायेगा। बाहर के विषाणु शरीर में आएँ, पर शरीर सशक्त हो, पाचन यंत्र ठीक काम करते हों, रुधिर में श्वेताणुओं की कमी न हो, तो विषाणु रत्ती भर असर नहीं डाल पाएँगे, उल्टे नष्ट हो जाएँगे; पर भीतर विजातीय द्रव्य भरा हो, आदमी में आकर्षणों की सड़न भीतर-भीतर बजबजा रही हो, तब तो वे अपनी शक्ति भीतर ही बढ़ाकर हमारे विनाश का कारण बन जाएँगे। यही नहीं, विजातीय द्रव्य के बाद वे शरीर की कोशाओं को भी खाने लगेंगे, तब फिर जीवन का अंत होगा ही।

प्रकाश में विषाणुओं को मार देने की शक्ति है। हमारे जीवन में प्रकाश तत्त्व बना रहे—विवेक बना रहे तो न केवल भलाई की शक्ति—देवत्व का विकास और उसके फलितार्थों से लाभान्वित होते रह सकते हैं। आसुरी तत्त्व वे चाहे कितने ही अदृश्य और शक्तिशाली क्यों न हों, जानकारी में आते रहें और उन्हें नष्ट करने—मारकर भगा देने का साहस हमारे जीवन में बना रहना चाहिए।

प्राणी यों प्रकृति की विपरीत चपेट में आकर अक्सर अस्तित्व गँवा बैठता है। नियति के उग्र परिवर्तनों का सामना नहीं कर पाता और विपरीत परिस्थिति के सामने अपने को निरीह—असमर्थ अनुभव करता है, पर ऐसा तभी होता है जब वह उस आपत्ति का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार न हो।

यदि प्राणी को विपरीत अनभ्यस्त परिस्थिति में रहने को विवश होना पड़े, तो वह अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए क्रमशः ऐसे परिवर्तन उत्पन्न कर लेता है—ऐसी विशेषता का उत्पादन कर लेता है, जिसके आधार पर वह प्राणघातक समझी

जाने वाली परिस्थितियों से भी तालमेल बिठा ले और अपना अस्तित्व कायम रख सके, सुविधापूर्वक निर्वाह कर सके।

जीवाणुओं की असह्य तापमान पर मृत्यु हो जाती है। वे अधिक उष्णता एवं शीतलता सहन नहीं कर सकते, यह मान्यता अब पुरानी पड़ चली है। पानी खौलने से अधिक गर्मी व शीत पर जीवाणुओं की मृत्यु हो जाने की बात ही अब तक समझी जाती रही है। इसका कारण यह था कि शरीर में पाया जाने वाला ग्लिसरोल रसायन असह्य तापमान पर नष्ट हो जाता है और जीवाणु दम तोड़ देते हैं; अब वे उपाय ढूँढ़ निकाले गए हैं कि इस रसायन को ताप की न्यूनाधिकता होने पर भी बचाया जा सके और जीवन को अक्षुण्ण रखा जा सके।

अत्यधिक और असह्य शीतल जल में भी कई प्रकार के जीवित प्राणी निर्वाह करते पाए गए हैं। इनमें से प्रोटोजोआ, निमैटोड, क्रस्टेशिया, मोलस्का आदि प्रमुख हैं।

येलोस्टोन की प्रयोगशाला में लुइब्राक और टामस नामक दो सूक्ष्म जीव-विज्ञानी—माइक्रो बायोलॉजिस्ट यह पता लगाने में निरत हैं कि जीव सत्ता के कितने न्यून और कितने अधिक तापमान पर सुरक्षित रह सकने की संभावना है। वे यह सोचते हैं कि जब पृथ्वी अत्यधिक उष्ण थी, तब भी उस पर जीवन सत्ता मौजूद थी। क्रमशः ठंडक बढ़ते जाने से उस सत्ता ने क्रमिक विकास-विस्तार किया है, पर इससे क्या—अति प्राचीन काल में जब जीवन सत्ता थी ही, तो वह विकसित अथवा अविकसित स्थिति में अपनी हलचलें चला ही रही होगी, भले ही वह अब की स्थिति की तुलना में भिन्न प्रकार की अथवा पिछड़े स्तर की ही क्यों न रही हो। विकसित प्राणी के लिए जो तापमान असह्य है, वह अविकसित समझी जाने वाली स्थिति में कामचलाऊ भी हो सकता है।

यदि यही तथ्य हो तो फिर जीवन की मूल मात्रा को शीत, ताप के बंधनों से मुक्त माना जा सकता है और गीताकार के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आत्मा को न आग जला सकती है,

न पवन सुखा सकता है, न जल डुबा सकता है। पंचभूतों की प्रत्येक चुनौती का सामना करते हुए वह अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकने में पूर्णतया समर्थ है।

समुद्र तट के सभी पर्वतीय क्षेत्रों में पाई जाने वाली धूसर रंग की मक्खी 'एफिड्रिड' को ४५° से ५१° से० ग्रे० के बीच तापमान वाले गर्म जल में प्रवेश करते देखा गया है। यह प्राणियों के जीवित रहने को असंभव बनाने वाली गर्मी है। सामान्यतया धरती की सतह पर २१° से० ग्रे० तापमान रहता है। प्राणियों को उतना ही सहन करने का अभ्यास होता है। अधिक उष्ण या अधिक ताप के वातावरण में रहने वाले जंतुओं को विशिष्ट स्थिति के अभ्यस्त ही कह सकते हैं।

एफिड्रिड मक्खी के अतिरिक्त कुछ जाति के बैक्टीरिया भी ऐसे पाए गए हैं, जो खौलते पानी के ६२° सेंटीग्रेड तापमान में भी मजे से जीवित रहते हैं। अमेरिका के येलोस्टोन नेशनल पार्क में स्थित गर्मजल के झरने प्रायः इसी तापमान के हैं और उनमें जीवित बैक्टीरिया पाए गए हैं। इन गर्म झरनों अथवा कुंडों में एक प्रकार की काई की मोटी परत जमी रहती है, जिसे हिंदी में शैवाल कहा जाता है, अंग्रेजी में उसका नाम एल्गी है। इसमें जीवन रहता है। आमतौर से वह ७५° से० ग्रे० तक गर्म जल में मजे का निर्वाह करती है। बैक्टीरिया उसी के सहारे पलते हैं। एफिड्रिड मक्खी का प्रमुख भोजन यह एल्गी ही है, उसे प्राप्त करने के लिए वह उस असह्य तापमान के जल में डुबकी लगाती है और बिना जले, झुलसे अपना आहार उपलब्ध करती है।

यह तो हुई छोटे जीवों की बात, अब अधिक कोमल समझे जाने वाले मनुष्यों की बात आती है। वह भी प्रकृति की असह्य कही जाने वाली स्थिति में निर्वाह करने के लिए अपने को ढाल सकता है। उत्तरी ध्रुव प्रदेश में रहने वाले एस्किमो लोग अत्यधिक शीत भरे तापमान में रहते हैं। भालू, हिरन और कुत्ते भी उस क्षेत्र में निवास करते हैं। वनस्पतियाँ और वृक्ष न होने पर पेट भरने के

लिए मांस प्राप्त कर लेते हैं। इसके लिए उन्होंने बर्फ की मोटी परतें तोड़कर नीचे बहने वाले समुद्र में से मछली पकड़ने की अद्‌भुत कला सीख ली है। आयुध साधन रहित होते हुए भी हिरन, भालू और कुत्तों का भी वे शिकार करना सीख गए हैं और लाखों वर्ष से उस क्षेत्र में निर्वाह कर रहे हैं।

प्रकृति के अनोखे वरदान

पैसिफिक सागर में गोता लगाकर मोती ढूँढ़ने वालों को पता चला कि "स्टारफिश" (यह तारे की तरह चमकने वाली छोटी-सी मछली होती है) ही अधिकांश सीपियों को नष्ट कर डालती है। अतएव वे मोती ढूँढ़ने से पहले इन स्टारफिशों को ही समूल नष्ट कर डालने के लिए जुट पड़े। उन्होंने इन्हें पकड़-पकड़ कर काटना शुरू कर दिया।

एक, दो, दस, पचास, सैकड़ा, हजार—कितनी ही स्टारफिशें काट डाली गईं, पर रावण के मायावी सिरों की भाँति वे कम न हुईं उलटे उनकी संख्या बढ़ती ही गई। अभी तक तो उनकी उपस्थिति ही चिंताजनक थी, अब तो उनकी आश्चर्यजनक वृद्धि और भी कष्टदायक हो गई। अंत में यह जानने का फैसला किया गया कि आखिर यह स्टारफिशों की वृद्धि का रहस्य क्या है ?

सावधानी से देखने पर पता चला कि जो स्टारफिश काट डाले गए थे, उनका प्रत्येक टुकड़ा स्टारफिश बन चुका था। अभी तक अमीबा, हाइड्रा जैसे एक कोशीय जीवों के बारे में ही यह था कि ये अपना "प्रोटोप्लाज्म" दो हिस्सों, दो से चार, चार से आठ हिस्सों में बाँटकर वंश-वृद्धि करते जाते हैं, पर अब इस बहुकोशीय जीव को काट देने पर भी जब एक स्वतंत्र अस्तित्व पकड़ते देखा गया, तो जीवशास्त्रियों का प्रकृति के इस विलक्षण रहस्य की ओर ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही था।

तब से निरंतर शोध-कार्य चलता रहा और देखा गया कि नेस सलामसीना, आइस्टर, स्नेल, घोंघा, फ्रेश वाटर मसल (शंबूक), साइलिस, चैटोगैस्टर (स्लग, मंथर), पाइनोगोनाइड (समुद्री मकड़ी)

आदि कृमियों में भी यह गुण होता है कि उनके शरीर का कोई अंग टूट जाने पर ही नहीं वरन् मार दिए जाने पर भी वह अंग या पूरा शरीर उसी प्रोटोप्लाज्म से फिर नया तैयार कर लेते हैं। केकड़ा तो इन सबमें विचित्र है। टैंक की-सी आकृति वाले इस जीव की विशेषता यह है कि वह अपने किसी भी टूटे हुए अंग को तुरंत तैयार कर लेने की प्रकृतिदत्त सामर्थ्य रखता है।

यह तथ्य जहाँ इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि इच्छा शक्ति पदार्थ का बंधन रहित उपयोग कर सकने में समर्थ है, वहाँ इस बात को भी प्रमाणित कर रहे हैं कि आत्म चेतना एक शक्ति है और वह भौतिक शक्तियों से बिल्कुल भिन्न मरण-धर्म से विपरीत है। उस पर जरा, मृत्यु आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्म तत्त्व भले ही वह किसी भी घृणित और तुच्छ से तुच्छ वासना एवं इच्छा शक्ति के रूप में क्यों न हो, इतना सशक्त है कि स्वेच्छा से न केवल अपने भीतर से उत्पादन की क्रिया आप ही करता रहता है, वरन् अपने पूर्णतया मुर्दा शरीर को भी बार-बार जीवित और नया कर सकता है। इन महान् आश्चर्यों को देखकर ही लगता है, भारतीय तत्त्वदर्शियों ने सृष्टि विकास क्रम को ईश्वर इच्छा शक्ति पर आधारित माना; इसी आधार पर विकासवाद जैसा सिद्धांत विखंडन हो जाता है। जब प्रकृति के नन्हें-नन्हें जीव, उत्पादन, उत्पत्ति और विकास की क्रिया में समर्थ होते हैं, तो कोई एक ऐसा विज्ञान भी हो सकता है, जब कोई एक स्वतंत्र इच्छा शक्ति अपने आप पंच महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) के संयोग से अपने आपको प्रकट कर दे, यों देखने में यह क्रिया बीज और वंशानुगत होती प्रतीत होती है।

हाइड्रा देखने में ऐसा लगता है जैसे एक स्थान पर फूल-पत्ते इकट्ठा हों। उसके अंग की कोई एक पंखुड़ी एक ओर बढ़ना प्रारंभ होती है और स्वाभाविक वृद्धि से भी ज्यादा बढ़ जाती है। यह अधिक बढ़ा अंग अपने आपको मूल भाग से अलग कर लेता है और वह एक स्वतंत्र-अस्तित्व बन जाता है। पैरामीशियम,

यूग्लीना आदि एक कोशीय जीवों में प्रजनन का यही नियम है, जो यह बताता है कि आत्म-सत्ता को एक सर्वांगपूर्ण शरीर यंत्र के निर्माण के लिए करोड़ों वर्षों के विकासक्रम की आवश्यकता या प्रतिबंध नहीं है, यदि उसे अपने लघुत्तम या परमाणविक स्वरूप का पूर्ण अंतःज्ञान हो जाए, तो वह कहीं भी कैसा भी रूप धारण करने में समर्थ हो सकता है। संभवतः अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ इसी तथ्य पर आधारित हैं। एक दिन विज्ञान भी इस दिशा में सफल हो सकता है, वह स्थिति आ सकती है, जब सम्मोहन शक्ति के द्वारा रासायनिक ढंग से उत्पादित प्रोटोप्लाज्मा में जीवन उत्पन्न किया जा सके। कैसा भी हो, उस महान् उपलब्धि के लिए विज्ञान को पदार्थ तक ही सीमित न रहकर "भाव" को भी संयुक्त करना ही पड़ेगा जैसा कि भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने अब से हजारों वर्ष पूर्व कर लिया था।

स्टेंटर अपने प्रोटोप्लाज्मा का १/६० अंश बाहर कर देता है और उसी से एक नया स्टेंटर तैयार कर देता है। प्लेनेरिया और हाइड्रा को नयी संतान पैदा करने के लिए अपने शरीर का कुल १/३०० वाँ हिस्सा पर्याप्त है।

प्राणों की जिस प्रतिभा का लाभ मनुष्य को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने के रूप में मिला, सृष्टि के अन्य प्राणी भी उस प्राण की महत्ता से अनभिज्ञ नहीं। बेशक वह प्राणों के स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकते, प्राणों का असीमित विकास और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली तेजस्विता, दीर्घजीवन, प्रज्ञा, बुद्धि का लाभ नहीं ले सकते, पर उनमें भी इच्छा-शक्ति इतनी दृढ़ होती है कि वे अपने मृत शरीर का बार-बार इस्तेमाल कर सकते हैं। परकाया प्रवेश की क्षमता भारतीय योगी ही अर्जित कर सके हैं, पर प्रकृति में ऐसे अनेक योगी हैं, जो अपने ही मरे, कुचले, टूटे-फूटे शरीर का अपने प्राणों के बल पर पुनः उपयोग कर लेते हैं।

जीवित स्पंज को लेकर टुकड़े-टुकड़े कर डालिए, उससे भी मन न भरे तो उन्हें पीसकर कपड़े से छान लीजिए। पिसे और कूटे

कपड़छन किए शारीरिक द्रव्य को पानी में डाल दीजिए। शरीर के सभी कोश धीरे-धीरे फिर एक स्थान पर मिल जाएँगे और कुछ दिन बाद पूरा नया स्पंज फिर से अपनी जीवन यात्रा प्रारंभ कर देगा। चुनौती है स्पंज की कि जब तक प्राण हैं, तब तक मुझे शरीर के अवसान की कोई चिंता नहीं। मरना-जीना तो मात्र प्राणों का ही खेल है।

हाइड्रा, स्टेंटर तथा प्लेनेरिया आदि जीवों में यह गुण होता है कि वे अपने शरीर के एक छोटे-से अंश को (३००वें भाग तक छोटे टुकड़े को) ही तोड़कर नया शरीर बना देते हैं। उन्हें गर्भ धारण, भ्रूण-विकास और प्रजनन जैसी परेशानियाँ उठानी नहीं पड़तीं। लगता है प्राण-तत्त्व की जानकारी होने के कारण ही प्राचीन भारत के तत्त्वदर्शी एक भ्रूण से १०० कौरव, घड़े से कुंभज और जंघा से सरस्वती पैदा कर दिया करते थे। अन्य एक कोशीय जीवों में पैरामीशियम तथा यूग्लीना में भी एक कोश से विभक्त होकर दूसरा स्वस्थ कोश अर्थात् नया जीव पैदा कर देने की क्षमता होती है। यह घटनाएँ इस बात की साक्षी भी हैं कि ऐसी क्षमताएँ अणु जैसी सूक्ष्म मनःस्थिति तक पहुँचने वाली क्षमता से ही प्रादुर्भूत हो सकती है।

टूटे हुए शारीरिक अंगों के स्थान पर नए अंग पैदा कर लेने की क्षमता ही कुछ कम विलक्षण नहीं। ट्राइटन सलामांडर, गोह अपने कटे हुए शरीर की क्षति पूर्ति तुरंत नए अंग के विकास रूप में कर लेते हैं। अमेरिका, अफ्रीका में पाए जाने वाला शीशे का साँप जरा-सा छूने से टूट जाता है, पर उसमें यह भी विशेषता होती है कि अपने टूटे हुए अंग को पुनः जोड़ लेता है। आइस्टर, शंबूक, घोंघा, समुद्री मकड़ी, मंथर आदि जीवों में भी यह गुण होते हैं। स्टारफिश के पेट में कोई जहरीला कीड़ा चला जाए, तो वह अपना पूरा पेट ही बाहर निकालकर फेंक देती है और नया पाचन-संस्थान तैयार कर लेती है। सलामेंसिनानेस, साहलिस तथा काटो गास्टर जीव तो स्पंज की तरह होते हैं, उन्हें कितना ही मार डालिए, मरना उनके लिए जबर्दस्ती प्राण निकाल देने के समान होता है। जहाँ

दबाव समाप्त हुआ, यह अपने प्राणों को फिर मरे-मराए शरीर में प्रवेश करके जीवन यात्रा प्रारंभ कर देते हैं।

जीवन यात्रा में उत्पन्न होने वाली विकृतियों के लिए भी प्रकृति ने मनुष्य देह में समुचित प्रबंध कर रखा है। मनुष्य जो कुछ खाता-पीता है, उससे जीवनी शक्ति को उसकी सहायता के लिए कार्बोहाइड्रेट (कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन), चर्बी, प्रोटीन, विटामिन्स और खनिज द्रव्य मिलते हैं। भोजन में से यह आवश्यक तत्त्व ग्रहण करने के लिए गले की नली से लेकर आमाशय की छोटी आँतों तक की पूरी मशीन दिन-रात काम करती रहती है। उससे भी अधिक ध्यान और मशीनरी का निर्माण शरीर में इसके लिए किया गया है कि शरीर द्वारा उत्पन्न होने वाली गंदगी शरीर से अलग होती रहे। भोजन और शक्ति के अभाव में मनुष्य कुछ दिन जी भी सकता है, पर स्वच्छता और सफाई के अभाव में मनुष्य शरीर अधिक दिन तक टिक नहीं सकता।

शरीर के वृक्क प्रतिदिन डेढ़ सेर मूत्र निकालते हैं। इसके द्वारा यूरिया, यूरिक एसिड, क्रीटीनाइन, एमोनिया, सोडियम क्लोराइड, फास्फोरिक अम्ल, मैग्नीशियम, कैल्शियम और पोटेशियम की बहुत-सी गंदगी शरीर से बाहर निकल जाती है। बड़ी आँत प्रतिदिन ढेरों मल निकालती रहती है। शरीर की त्वचा में लाखों की संख्या में ग्रंथियाँ होती हैं, जो रक्त से पसीने को छानकर बाहर निकालती रहती हैं। हथेली के एक वर्ग इंच में ही ऐसी कम से कम ३६०० ग्रंथियाँ होती हैं। इससे पता चलता है कि प्रकृति ने शरीर में सफाई की व्यवस्था को सबसे अधिक ध्यान देकर सावधानी से जमाया है। यदि शुद्धीकरण की यह क्रिया एक दिन को भी बंद हो जाए, तो शरीर सड़ने लगे और मस्तिष्क पागल हो जाए।

शरीर ही नहीं, प्रकृति का हर कण और प्रत्येक क्षण दोष-दूषणों के प्रति सजग और सावधान रहता है, जहाँ भी कहीं गंदगी दिखाई दी, प्रकृति उस पर टूट पड़ती है और देखते-देखते गंदगी को साफ करके उस स्थान को शुद्ध और उपयोगी बना देती है।

जिसे हम नगण्य समझते हैं—उस मिट्टी में भी फफूँद (फंगाई), एक्टीनो माइसिटीज तथा दूसरे कई महत्त्वपूर्ण जीवाणु (बैक्टीरिया) पाए जाते हैं। यह नंगी आँखों से दिखाई नहीं देते, उन्हें शक्तिशाली खुर्दबीनों (माइक्रोस्कोप) से ही देखा जा सकता है। पर उनकी इस लघुता में वह महानता छिपी है, जो सारे मनुष्य-समाज के हितों की रक्षा करती है। यदि यह जीवाणु न होते, यह सारी पृथ्वी ७ दिन के अंदर पूरी तरह से मल से आच्छादित हो जाती और तब मनुष्य का जीवित रहना भी असंभव हो जाता।

जैसे ही कोई सड़ी-गली वस्तु, मल या कोई गंदगी जमीन में गिरी, यह जीवाणु दौड़ पड़ते हैं और इस गंदगी के अणुओं की तोड़-फोड़ प्रारंभ कर देते हैं। दूसरे दिन हम उधर जाते हैं, तो मल के ढेर के स्थान पर मिट्टी का-सा ढेर दिखाई देता है। लोग उपेक्षा से देखकर निकल जाते हैं, पर वहाँ प्रकृति का एक बड़ा उपयोगी सिद्धांत काम करता रहता है। यह जीवाणु इस गंदगी के एक-एक अणु को तब तक तोड़ते-फोड़ते रहते हैं, जब तक वह सारी की सारी मिट्टी में बदल नहीं जाती।

प्रतिरोध की स्वयं समर्थ शक्ति

सरल और सहज जीने की चाह तो हर किसी को रहती है, पर उसकी पूर्ति होना शक्य नहीं। प्रकृति चाहती है कि हर प्राणी को—संघर्ष की पाठशाला में पढ़कर शौर्य, साहस की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले। सरल जीवन में सुविधा तो है, पर हानि यह है कि प्राणी की प्रखरता नष्ट हो जाती है, उसकी प्रतिभा अविकसित रह जाती है। प्रतिकूलता से जूझे बिना जीवन के शस्त्र पर धार नहीं धरी जा सकती, चमक और पैनापन लाने के लिए उसे पत्थर पर घिसा ही जाता है। मनुष्य समर्थ, सबल और प्रखर बना रहे, इसके लिए संघर्षरत रखने की सारी व्यवस्था प्रकृति ने कर रखी है। इसी व्यवस्था क्रम में एक भयंकर लगने वाली रोग-कीटाणु संरचना भी है, जो जीवन को मृत्यु में बदलने के लिए निरंतर चुनौती देती रहती है।

आँखों से न दीख पड़ने वाले अत्यंत सूक्ष्म रोग-कीटाणु हवा में घूमते रहते हैं—प्रयोग में आने वाली वस्तुओं के सहारे रेंगते रहते हैं और अवसर पाते ही हमारे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। उनकी वंश वृद्धि आश्चर्यजनक गति से होती है। उनकी विषाक्तता एवं मारक शक्ति भी अद्‌भुत होती है। शरीर में साँस, जल या दूसरे किन्हीं आधारों पर वे प्रवेश कर जाते हैं और वहाँ पहुँचकर अपनी गतिविधियों से भयानक रोगों का सृजन करते हैं। उनके प्रतिरोध की प्रकृति ने व्यवस्था की है। रक्त में पाए जाने वाले श्वेत कीटाणु इन शत्रुओं से जूझते हैं। शरीर की गर्मी तथा विभिन्न स्थानों से निकलने वाले स्राव उन्हें मारते हैं। इस युद्ध में बहुधा मनुष्य की जीवनी शक्ति ही विजयी होती है, तभी तो स्वास्थ्य रक्षा संभव होती है अन्यथा इन विषाणुओं के द्वारा होते रहने वाले अनवरत् आक्रमण से शरीर का एक दिन भी जीवित रह सकना संभव न हो सके।

इन रोग कीटाणुओं की असंख्य जातियाँ हैं और उनके क्रिया-कलाप भी अद्‌भुत हैं। वर्तमान रोग परीक्षा पद्धति में यह पता लगाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया है कि रोगी के शरीर में किन रोग कीटाणुओं का आधिपत्य है ? मल-मूत्र, कफ, रक्त आदि की परख करके इसकी जानकारी प्राप्त की जाती है और तदनुरूप उन्हें मारने की विशेषताओं वाली औषधियों का प्रयोग किया जाता है। विषाणुओं की अनेक जातियों के अनुरूप ही उनकी मारक औषधियाँ ढूँढ़ी गई हैं। इन्हें एंटीबायोटिक्स कहते हैं। इन दिनों इन औषधियों का निर्माण और उपयोग खूब हो रहा है। रोग निवारण का इन दिनों यह प्रमुख आधार है।

पैनिसिलीन—स्ट्रेप्टोमायसिन वर्ग की रोग-कीटनाशक एंटीबायोटिक्स औषधियों में अब एक और चमत्कारी चरण जुड़ गया है, वह है लैडरली लैबोरेटरी द्वारा प्रस्तुत किया गया रसायन डी० एम० सी० टी०। इसका पूरा नाम है—डिमिथाइल क्लोरो टेट्रासाइक्लिन, इन दवाओं की चमत्कारी औषधियों को "वंडर ड्रग्स" कहा जाता है। इनका मूल उद्‌देश्य है—शरीर में उत्पन्न हुए

या प्रविष्ट हुए रोग-कीटाणुओं को निरस्त करना। विकृत बैक्टीरियाओं—वायरसों के उपद्रव ही विभिन्न रोगों के प्रधान कारण माने जाते हैं। यह मारक औषधियाँ इन कीटकों पर आक्रमण करती हैं—इन्हें मूर्च्छित करतीं और मारती हैं, फलतः रोगी के जो कष्टकारक उपद्रव लक्षण थे, वे शमन होते दिखाई देते हैं।

इन मारक रसायनों के प्रयोग का उत्साह इसलिए ठंडा हो जाता है कि वे विषाणुओं के मारने के साथ रक्षाणुओं को भी नहीं बख्शतीं। उनकी दुधारी तलवार बिना अपने-पराए का, मित्र-शत्रु का भेदभाव किए जो भी उनकी पकड़-परिधि में आता है, उन सभी का संहार करती हैं। पैनिसिलीन के चमत्कारी लाभों की आरंभ में बहुत चर्चा थी, पर जब देखा गया कि उसके प्रयोग से दानेदार खुजली जैसे कितने ही नए रोग उत्पन्न होते हैं और किसी-किसी को तो उसकी प्रतिक्रिया प्राणघातक संकट ही उत्पन्न कर देती है, तब वह उत्साह ठंडा पड़ा। अब कुशल डॉक्टर पेनिसिलीन का प्रयोग आँखें मूँदकर नहीं करते। उसके लिए उन्हें फूँक-फूँककर कदम धरना होता है। कुनैन से मलेरिया के जीवाणु तो मरते थे, पर कानों का बहरापन—नकसीर फूटना जैसे नए रोग बँध जाते हैं। इस असमंजस ने उसके प्रयोग का आरंभिक उत्साह अब शिथिल कर दिया है। कुनैन का अंधाधुंध प्रयोग अब नहीं किया जाता।

लंदन के बारथोलोम्यूज अस्पताल में विभिन्न स्तर की एंटी-बायोटिक औषधियों का प्रयोग-परीक्षण २७५ प्रकार के बैक्टीरियाओं से ग्रसित मरीजों पर उलट-पुलट कर किया गया। इन परीक्षणों में नव-निर्मित डी० एम० सी० टी० इस दृष्टि से अधिक प्रशंसनीय मानी गई कि उसने विषाणुओं का जितना संहार किया, उतनी चोट रक्षाणुओं को नहीं पहुँचाई। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्णतया हानि रहित है। इसमें केवल रोग ही नष्ट होते हैं, जीवनी शक्ति को क्षति नहीं पहुँचती, ऐसा दावा करना किसी के लिए भी संभव नहीं हो सका।

हल्की खाँसी, तीसरे पहर बुखार की हरारत, भूख की कमी, वजन का घटना, रात्रि के अंतिम पहर में पसीना आना जैसे सामान्य लक्षणों से क्षय रोग की संभावना का पता लगाया जा सकता है। इन चिह्नों के आधार पर यह आशंका की जा सकती है कि हो न हो, रोगी पर क्षय का आक्रमण हो चला है।

वस्तुस्थिति का पता तो छाती का स्क्रीनिंग अथवा एक्सरे एवं रक्त, थूक आदि का परीक्षण करने पर ही चलता है। इसके लिए मॉस मिनिएचर रेडियोग्राफी (एम० एम० आर०) की सरल परीक्षा पद्धति भी सामने आई है।

आमतौर से क्षय उपचार में लगातार दो-तीन महीने 'स्टेप्टो-माइसिन' के इंजेक्शन लगाए जाते हैं एवं आइसोनेक्स—पी० ए० एस० जैसी दवाओं का स्थिति के अनुरूप सेवन कराया जाता है।

बचाव उपचार में बी० सी० जी० (वेसीलस काल्मेटेग्वेरिन) के टीके लगाए जाते हैं। यह नामकरण उनके आविष्कर्ताओं के नाम पर ही किया गया है। ४० सुइयों की खरोंच वाला यह टीका आरंभ में बहुत उत्साहवर्धक समझा गया था, पर अब उसकी प्रतिक्रिया संदिग्ध आशंका के रूप में सामने आ रही है। अब क्षय से सुरक्षा प्राप्त करने का यह टीका अमोघ उपचार नहीं रहा, वरन् उसके दुष्परिणाम पीछे किसी अन्य व्यथा को साथ लाएँगे, ऐसा माना जाने लगा है।

आवश्यक नहीं कि आक्रमण बाहर से ही हों, अपनी आंतरिक दुर्बलता भी गृह युद्ध खड़ा कर देती है। 'घर का भेदी लंका ढावे' वाली कहावत भी बहुत बार सामने आती है। अवांछनीय व्यवहार से रुष्ट होकर अपने उपयोगी तत्त्व विद्रोही बनकर आक्रमणकारी शत्रु का रूप धारण कर लेते हैं और उस अंतःविस्फोट का स्वरूप भी विप्लवी गृह युद्ध जैसा बन जाता है। इस प्रकार उत्पन्न हुए रोगों और विषाणुओं की संख्या भी कम नहीं होती।

जब किसी कारणवश शरीर के कुछेक जीवकोष विद्रोही हो जाते हैं, तो सामान्य रीति-नीति की मान-मर्यादा तोड़कर उद्धत-

उच्छृंखल गतिविधि अपनाकर मनमर्जी की चाल चलते हैं। यह उद्धत-विद्रोही जीवकोष ही कैंसर का मूल कारण है।

आमतौर से जीवकोष अपनी भूख तथा आवश्यकता तरल रक्त से प्राप्त करते रहते हैं, किंतु जब उनमें से कुछ असंतुष्ट अपने लिए मनमर्जी का वैभव चाहते हैं, तो समीपवर्ती जीव कोषों पर टूट पड़ते और उन्हें लूट-खसोटकर अपना अधिकार क्षेत्र बढ़ाते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने लिए निर्धारित क्षेत्र और कार्य की मर्यादाओं को तोड़कर रक्त-प्रवाह में तैरते हुए किसी भी अंग में जा घुसते हैं और वहाँ भी कत्लेआम का दृश्य उपस्थित करते हैं। जहाँ भी उन्हें पैर टिकाने की जगह मिली, वहीं के अधिकारी बनकर बैठ जाते हैं। यही है कैंसर की मूल प्रकृति।

कैंसर को उत्पन्न करने वाले उपकरण 'कारसिनोज' कहे जाते हैं। कोलतार, रेडियम, मादक द्रव्य इसी वर्ग में आते हैं। इनका गहरा प्रभाव शरीर पर पड़ेगा, तो कैंसर की आशंका बढ़ेगी। अधिक आग तापने अथवा किसी अंग विशेष का अनावश्यक अतिघर्षण होते रहने से भी यह विपत्ति सामने आ खड़ी होती है। रतिक्रिया की सीमा एवं कोमलता का व्यतिक्रम होने से स्त्रियों की जननेंद्रिय कैंसरग्रस्त हो जाती है।

एक ओर विषाणुओं की विभीषिका सामने खड़ी है और रुग्णता से लेकर मरण तक के साज सँजो रही है, वहाँ दूसरी ओर जीवन रक्षा की सेना भी कमर कसकर सामने खड़ी है। हमारे शरीर में ही एक विशालकाय महाभारत रचा हुआ है। कौरवों की कितनी ही अक्षौहिणी सेना जहाँ अपने दर्प से दहाड़ रही है, वहाँ पांडवों की छोटी टुकड़ी भी आत्मरक्षा के लिए प्राण हथेली पर रखकर युद्ध क्षेत्र में डटी हुई है। रक्ताणु हमारी जीवन रक्षा के अदम्य प्रहरी हैं, वे विषाणुओं को परास्त करके जीवन संपदा को बचाने के लिए कट-कट कर लड़ते हैं, अपने प्राण देकर के भी शत्रु का अपनी भूमि पर अधिकार न होने देने का प्रयत्न करते हैं। हमारे

अंतः क्षेत्र में, धर्म-क्षेत्र में, कर्म-क्षेत्र में चलती रहने वाली यह महाभारत जैसी पुण्य-प्रक्रिया देखने-समझने योग्य है।

रक्त को नंगी आँखों से देखें, तो वह लाल रंग का गाढ़ा प्रवाही मात्र दिखाई देता है, पर अणुवीक्षण यंत्र से देखने पर उसमें असंख्य रक्ताणु दिखाई देते हैं। इनकी आकृति-प्रकृति की अब अनेक जातियाँ जानी-परखी जा चुकी हैं। यह रक्ताणु भी कोशिकाओं की तरह ही जन्मते-मरते हैं। प्रायः उनकी आयु तीन महीने होती है। उनकी बनावट स्पंज सरीखी समझी जा सकती है, जिसके रंध्रों में 'हीमोग्लोबिन' नामक रसायन भरा होता है। यह रक्ताणु रक्त के साथ निरंतर समस्त शरीर में भ्रमण करते रहते हैं और अपने तीन मास के स्वल्प जीवनकाल में प्रायः तीन सौ मील का सफर कर लेते हैं।

हीमोग्लोबिन कभी रक्त का प्रमुख रसायन माना जाता था। अब उसे चार श्रृंखलाओं में जुड़ा हुआ प्रायः ६०० अमीनो अम्लों का समूह पाया गया है। नोबल पुरस्कार विजेता लाइनस सी० पलिंग ने अपने दो साथियों के साथ इन रक्ताणुओं की शोध में अभिनव जानकारियों की कितनी ही कड़ियाँ जोड़ी हैं।

कितने ही रोग इन रक्ताणुओं के साथ जुड़े होते हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं। कुछ विशेष कबीलों में कुछ विशेष प्रकार के रक्ताणु पाए जाते हैं। तदनुसार उनकी शारीरिक स्थिति में अमुक रोग का प्रतिरोध करने की—अमुक रोग से आक्रांत होने की विशेष स्थिति देखी गई है। शारीरिक ही नहीं, मानसिक क्षेत्र में भी यह रक्त विशेषता जमी रहती है। कुछ परिवारों के लोग बहुत भोले और डरपोक पाए जाते हैं, जबकि किन्हीं वर्गों में आवेश, उत्तेजना और लड़ाकू प्रवृत्ति का बाहुल्य रहता है। राजपूतों की लड़ाकू प्रवृत्ति और जुलाहों का डरपोकपन प्रसिद्ध है। संभवतः ऐसी विशेषताएँ रक्ताणु की परंपरागत स्थिति के कारण उत्पन्न होती हैं।

पिछले पंद्रह वर्षों में तीस से अधिक प्रकार के असामान्य हीमोग्लोबिन वर्गों का पता लगाया जा चुका है। कैंब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० वर्नाव एम० इंग्राम ने इनके वर्गीकरण तथा

क्रियाकलापों की गहरी शोध करके यह पाया है कि शरीर एवं मन के रुग्ण एवं स्वस्थ होने में यह रक्त-रसायन असाधारण भूमिका संपन्न करते हैं। अफ्रीका में कोई ८० हजार बच्चे इन रक्त-रसायनों की विकृति के साथ जन्म लेने के कारण स्वल्प काल में ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। इसी प्रकार उस महाद्वीप के एक कबीले में ऐसे रक्ताणु पाए गए, जो मलेरिया के 'प्लास्मोडियम फाल्सी पेरम' कीटाणुओं से शरीर को तनिक भी प्रभावित नहीं होने देते। अन्य कबीलों के लोग उस क्षेत्र में आकर रहे, तो तुरंत मलेरिया ग्रसित हो गए, किंतु वहाँ के मूल निवासी मुद्दतों से इन्हीं मच्छरों के बीच रहते हुए कभी बीमार नहीं पड़े।

स्वीडन के शरीर विज्ञानी प्रो० फोर्लिंग इस बात पर जोर देते हैं कि विषाणुओं को मारने के लिए एंटीबायोटिक्स अथवा दूसरी प्रकार की जो मारक औषधियाँ दी जा रही हैं, उनका प्रचलन बंद किया जाए और स्वस्थ रक्ताणुओं को अधिक समर्थ बनाने के प्रयोगों को प्राथमिकता दी जाए। रोगों का स्थायी निवारण और सुदृढ़ स्वास्थ्य का संरक्षण इस नीति को अपनाने से संभव होगा।

मारक औषधियाँ मित्र-शत्रु का—अपने-पराए का भेद किए बिना अपनी अंधी तलवार दोनों पक्ष के योद्धाओं को मारने के लिए प्रयुक्त करती है। विषाणु मरें, सो ठीक है, पर स्वस्थ कणों की संपदा खोकर तो हम इतने दीन-हीन बन जाते हैं कि दुर्बलता भी रुग्णता से कम कष्टकारक नहीं होती। उससे भी मंद गति से दीर्घकाल तक चलती रहने वाली रुग्णता ही जम बैठती है।

प्रकृति ने जीवन की प्रखरता को सँजोए रखने के लिए संघर्ष आवश्यक समझा और विषाणुओं, रक्ताणुओं में निरंतर संघर्ष होते रहने की व्यवस्था बना दी, ताकि हम युद्ध-कौशल में प्रवीण होकर सच्चे अर्थों में समर्थ प्रगतिशील बन सकें।

इस युद्ध से एक निष्कर्ष यह निकलता है कि शत्रु को मारने से भी अधिक उपयोगिता आत्म-पक्ष को सबल बनाने की है। संसार में फैली हुई अनीति के दमन के लिए आवेश में आकर

उपयोगी-अनुपयोगी की परख किए बिना अंधाधुंध तलवार चलाना हानिकारक है। लाभ इसमें है कि नीति पक्ष को परिपुष्ट किया जाए, जिससे बिना कठिन संघर्ष के ही शत्रु पक्ष परास्त हो सके। साथ ही आत्म-पुष्टि से चिरस्थायी स्वास्थ्य-संतुलन की—शांति और प्रगति की अभिवृद्धि हो सके। हमारी जीवन नीति एवं सुधार-व्यवस्था का संचालन इसी आधार पर होना चाहिए।

असुरता के संहार में प्रवृत्त—अंतःचेतना

कैंसर क्रोनिक स्टिमुलश से बढ़ता है, जिसका अधिकांश कारण धूम्रपान (स्मोकिंग) है। क्रोनिक सविसाइटिस (स्त्री-रोग), पेट का फोड़ा (पेप्टिक अल्सर) आदि से भी ५ प्रतिशत कैंसर हो सकता है, पर डॉक्टरों की राय में इन सबका कारण अपनी ही चिंताएँ, उतावलापन और मिर्च-मसालों वाला गरिष्ठ आहार होता है। एक बार क्रोनिक स्टिमुलश पैदा हो जाने के बाद वह कोष (सेल्स) को विकृत करना प्रारंभ करता है। १ से २, २ से ४ इस क्षिप्र गति से बढ़ता हुआ यह रोग सारे शरीर पर उसी तरह छा जाता है, जिस तरह दहेज, रिश्वत, मिलावट, अंधविश्वास, अशिक्षा और बाल-विवाह आदि कुरीतियाँ भारतीय जीवन को आच्छादित किए हैं। यदि प्रारंभ में ही इसे नष्ट न किया गया, तो कैंसर का ठीक होना कठिन हो जाता है।

मनुष्य जीवन की एक विस्तृत प्रक्रिया का नाम समाज है। हम जिस गाँव में, मुहल्ले या नगर में रहते हैं—समाज वहीं तक सीमित नहीं। हमारा प्रांत, हमारा देश, पड़ौसी देश और सारा विश्व एक समाज है। समाज की सीमाएँ विशाल हैं। अपने आप तक सीमित सुधार की प्रक्रियाएँ सरल हो सकती हैं, किंतु हम इस व्यापक समाज से इतने प्रभावित और बँधे हुए हैं कि उसकी हर छोटी-छोटी बुराई से हमारा टकराव हर घड़ी होता रहता है। हमारी सज्जनता, हमारी शुद्धता, हमारा सौष्ठव सभी स्थिर रह सकता है, जब सारा विश्व-समाज ही शुद्ध, सज्जन और सौम्य हो। इस जटिल समस्या को हल करना तभी संभव है, जब विश्व-संस्कृति की सभी भलाई वाली शक्तियाँ निरंतर क्रियाशील रहें और बुराइयों पर उसी प्रकार दबाव डालती रहें, जिस

तरह शरीर में उत्पन्न होने वाले रोग, शोक और बीमारियों का संहार औषधियों से करते रहते हैं।

जब शरीर में बाहरी कीटाणुओं से या भीतरी किसी कारण से कोई रोग हो जाता है, तो एंटीबायोटिक्स दवाइयों द्वारा उस पर सीधा घातक प्रभाव डाला जाता है। यह औषधियाँ शरीर के सारे रक्त का दौरा करती हैं और जहाँ कहीं भी रोग-कीटाणुओं को छिपा हुआ पाती हैं, मार गिराती हैं।

कई बार इस संघर्ष में अपनी भी हानि होती है। औषधिशास्त्र कहता है—यदि १०० शत्रु नष्ट करने में एक अपना भी मारा जाए तो कुछ हर्ज नहीं, पर सीधे मुकाबले का रास्ता छोड़ना नहीं चाहिए। पेट में कई राउंड वर्मस् पैदा हो जाते हैं। यह परजीवी (पैरासाइट) कीड़े (बैक्टीरिया) आँतों को उस तरह खाने लगते हैं जैसे फैशनपरस्ती, नशेबाजी, वासनाएँ स्वास्थ्य को खाने लगती हैं। इस स्थिति में डॉक्टर और दस्तावर औषधि देते हैं और रक्त में होने वाले विषैले प्रभाव से शरीर को बचाते हैं। इन औषधियों में तीव्रता होती है, वह पेट की सारी गंदगी झाड़ फेंकती हैं। यह क्रिया कुछ तीव्र होती है, इससे पाचन वाले अम्ल (एसिड्स) भी पटक जाते हैं, पर उनका चला जाना भी रोग के आक्रमण से हो जाने वाली हानि की तुलना में कहीं अधिक उपयोगी है। इसीलिए सीधे संघर्ष में कुछ लोगों को शारीरिक या मानसिक कष्ट भी हो, तो भी प्रसन्नता अनुभव करनी चाहिए।

कई बार डॉक्टर उचित इलाज का पता नहीं लगा पाते, तब वे प्रभावित अंग से रोग के कीटाणु निकालकर उन्हें कल्चर प्लेट पर रखते हैं और उन पर कई एंटी-बायोटिक्स औषधियों की एक-एक बूँद रखते जाते हैं। जो औषधि अधिक कीटाणुनाशक हुई, बाद में उसी का प्रयोग किया जाता है।

बुराइयों से सतर्कता तो प्रत्येक स्थिति में रखनी ही चाहिए अन्यथा पता न चलेगा और वह भीतर ही भीतर हमें नष्ट कर सकती है। शराब पीने वालों में चर्बी की एक सतह जिगर के कोषों के ऊपर जम जाती है। उससे जिगर के कोषों को खाद्य

(ऑक्सीजन) मिलना बंद हो जाता है। शराब पीने वाले को पता नहीं चलता और भीतर-ही-भीतर सिरोसिस ऑफ लिवर बीमारी हो जाती है। मनुष्य को अपने स्वभाव, समाज की प्रत्येक गतिविधि पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ और बीमारी पककर फूटी तो उसका सँभालना कठिन हो जाता है।

डॉक्टर और स्वास्थ्य-विशेषज्ञ जानते हैं कि जीवाणु दो प्रकार के होते हैं—[१] एयरोबिक अर्थात् जिन्हें जिंदा रहने के लिए ऑक्सीजन आवश्यक है। [२] एन० एयरोबिक अर्थात् जिन्हें ऑक्सीजन आवश्यक नहीं। कोई अंग सड़ जाये (ग्रैगीन) क्लास्टेडियम बेसलाई, क्लास्टेडियम एडेमेंटीस एवं क्लास्टेडिक सेप्टिकी जो एन० एयरोबिक हैं, उनको मारने के लिए एयरोबिक वातावरण पैदा करना आवश्यक है।

बुराई न बढ़े, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि उन्हें पोषण न मिले। गुंडा तत्त्वों से डरकर लोग न चाहते हुए भी उन्हीं का समर्थन और हाँ में हाँ मिलाने लगते हैं। इससे उनका कुनबा और भी फलने-फूलने लगता है, यदि लोग उनका समर्थन और पोषण बंद कर दें, तो वह अपने आप मरकर नष्ट हो जाएँ।

टी० बी० के कीटाणु इस सिद्धांत पर मारे जाते हैं। यह एसिड फास्ट बेसिलाई [जो एसिड से भी नहीं मरते] हैं। जब इस तरह के कीटाणु शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं, तब डॉक्टर स्ट्रेप्टोमाइसीन देते हैं। यह टी० बी० के कीटाणु की ऊपरी झिल्ली [लायपाइड कवरिंग] पर चारों ओर से घेरा डाल लेता है। इससे उस कीटाणु की मुसीबत आ जाती है। दुष्ट अपना खाद्य भी नहीं ले सकता और भीतर घुटकर मर जाता है। जो बुराइयाँ सीधी टक्कर से नहीं जीती जा सकतीं, उनको पोषण न मिले तो वे टी० बी० के कीटाणु की तरह आप नष्ट हो जाती हैं।

जहाँ इस स्थिति में भी काम न बने, वहाँ भलाई की शक्ति का उद्‌बोधन करना और उसे मुकाबले के लिए ललकारना आवश्यक हो जाता है। नान स्पेसिफिक थैरेपी के अंतर्गत कई

बीमारियाँ ऐसी होती हैं, जो लगातार औषधि-सेवन से भी अच्छी नहीं होतीं। उदाहरण के लिए चमड़ी की बीमारी—एक्जिमा। उस स्थिति में डॉक्टर मुकाबले की शक्ति तैयार करते हैं। रोगी के शरीर का ५ सी. सी. शुद्ध रक्त लेकर रोगी के शरीर में प्रवेश [इंजेक्ट] करा दिया जाता है। यह प्रोटीन होता है और भीतर शरीर में पहले से ही प्रोटीन होता है। जब तक अच्छाई-बुराई में भेद न किया गया था, बुराई भी दहेज, पर्दा-प्रथा, नशा आदि की तरह साथ-साथ पल रही थी। पर जब कुछ यज्ञ, हवन, जप, तप, बिना दहेज विवाह, नशा-उन्मूलन आदि की स्थिति बनी, तो दूसरे लोगों ने भी अनुभव किया कि बुराई वह है, जो अपना या समाज के किसी भी वर्ग का अहित करती है, भले ही वह कोई परंपरा बन गई हो। जब इस तरह का विवेक जाग पड़ता है, तो अपनी बुराइयों का उन्मूलन ठीक ऐसे ही सरल हो जाता है, जैसे एक्जिमा में रोगी का ही रक्त का इंजेक्शन कर देना। भीतर वाले प्रोटीन उन्हें बाहरी समझकर हमले के लिए तैयार होते हैं, पर जब वे अनुभव करते हैं कि अरे ! यह तो अपने ही बंधु और हितैषी हैं, तब उनसे मिल जाते हैं और एक नई शक्ति अनुभव करते हैं। अब सब मिलकर एक्जिमा के विरोध में लड़ पड़ते हैं और उस न मिटती जान पड़ने वाली बीमारी को भी नष्ट कर डालते हैं। अच्छाई को उकसाकर बुराई को नष्ट करने का प्रयोग बहुत ही उपयोगी और सफल सिद्ध होता रहा है।

यह वैज्ञानिक प्रयोग हैं, जिनसे शरीर के समान ही अपने को शुद्ध, पवित्र और दिव्य बनाया जा सकता है। उसी के आधार पर सुख, समृद्धि और विश्व शांति का वातावरण पैदा किया जा सकता है।

❒ ❒

व्यवस्था और शक्ति का कहीं अभाव नहीं

■

हाथी, ऊँट, गैंड़ा, जिराफ, चिंपेंजी, गुरिल्ला, सिंह, व्याघ्र, ह्वेल, शार्क जैसे समर्थ और बड़े शरीर वाले प्राणियों की गतिविधियों और सामर्थ्यों के संबंध में हमें बहुत जानकारी उपलब्ध है। मनुष्य की बुद्धिशीलता के संबंध में बहुत जाना-खोजा गया है, पर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्रकृति ने ऐसी विशेषताएँ बड़ी आकृति वाले प्राणियों को ही दी हैं।

छोटे जीवों में चींटी, दीमक और मधुमक्खियों जैसे कीड़े-मकोड़े की गतिविधियों पर यदि गंभीरतापूर्वक दृष्टि डाली जाए, तो आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है और प्रतीत होता है कि अपने जीवन क्षेत्र की परिधि में उन्हें मनुष्य से भी अधिक बुद्धिमत्ता और कुशलता उपलब्ध है।

जिन प्राणियों को मूर्ख ठहराया जाता है, उनके संबंध में विचार करते समय हम अपने स्तर की क्षमता की कमी-बेशी का ही लेखा-जोखा लेते हैं। यह भूल जाते हैं कि सब प्राणियों का कार्यक्षेत्र एवं जीवन-क्रम एक नहीं। जिसको जिस स्तर का जीवनयापन करना पड़ता है, उसे प्रकृति ने उसके कार्यक्षेत्र में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकने योग्य कुशलता पर्याप्त मात्रा में दी है। इस तरह से वे न तो तुच्छ ठहरते हैं, न मूर्ख, न अशक्त। मछलियों के समाज में हमें रहना पड़े और जल में निवास करना पड़े, तो निस्संदेह मछलियाँ हमें सर्वथा असफल एवं दयनीय प्राणी मानेंगी। यही बात मक्खियों के संबंध में है। हम उनकी दृष्टि में एक निरीह जीवधारी ही ठहर सकते हैं और वे उन्मुक्त आकाश में उड़ते हुए हमारी असमर्थता को दुर्भाग्य का चिह्न ही ठहरा सकती है।

दृश्यमान स्थूलकाय प्राणियों से भी आगे बढ़ें, तो ऐसे जीवधारियों की बहुत बड़ी संख्या मिलेगी, जिन्हें विकसित कहा जा सकने योग्य मस्तिष्क तथा संवेदना सूचक इंद्रिय समूह प्राप्त नहीं

है। इतनी अभावग्रस्तता के बीच भी उन्हें चेतना का अपना अद्‌भुत स्तर उपलब्ध है और वंश-वृद्धि से लेकर जीवनयापन के दूसरे साधनों तक बहुत कुछ प्राप्त है और वह इतना अधिक और विस्तृत है कि मनुष्य उस पर दाँतों तले उँगली ही दबा सकता है।

जीवाणुओं की अपनी दुनिया है। ये बहुत छोटे हैं। उनमें से कितने तो ऐसे हैं, जो सूक्ष्मदर्शी यंत्रों की सहायता के बिना खुली आँखों से देखे ही नहीं जा सकते। इतने छोटे होते हुए भी उन्हें अपने स्तर का क्रियाकलाप, जीवनयापन कर सकने की आश्चर्यजनक क्षमता प्राप्त है। शरीर के अनुपात से जितनी सामर्थ्य उन्हें प्राप्त है, उसी हिसाब से हमारे शरीर के लिए कितनी सामर्थ्य चाहिए, इसका हिसाब लगाया जाए, तो प्रतीत होगा कि अनुमान की दृष्टि से मनुष्य को प्रकृति का अनुदान बहुत ही स्वल्प प्राप्त है। जीवाणुओं को उनके छोटे कलेवर के अनुसार जो कुछ मिला है, यदि वही अनुदान मनुष्य को प्राप्त रहा होता, तो उसकी क्षमता उतनी अधिक होती, जितनी कि हम देवताओं की सामर्थ्य की कल्पना करते हैं।

जीवित प्राणियों में सबसे सूक्ष्म जीव इकाई है—जीवाणु। इनमें तरल प्रोटोप्लाज्म भरा रहता है। ऊपर सेल्यूलोज की झिल्ली होती है। इनका आकार प्रायः एक इंच का पच्चीस हजारवाँ भाग होता है। ये स्वयं ही अपने शरीर में प्रजनन करते हैं। २४ घंटे में प्रायः एक जीवाणु लगभग डेढ़ करोड़ नए जीवाणु उत्पन्न कर देता है और हर नया जीवाणु अपने जन्म के प्रायः १५ मिनट बाद प्रजनन योग्य प्रौढ़ता प्राप्त कर लेता है। सूर्य का तीव्र ताप इनकी मृत्यु का प्रधान कारण होता है।

जीवाणुओं में कोमलता और अशक्तता बहुत है। पर इतने पर भी उन्हें अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकने लायक वह विशेषताएँ भी प्राप्त हैं, जिनके आधार पर वे प्रलय जैसी भयंकर विपत्तियों से भी जूझते हुए अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकें।

जीवन की सूक्ष्मतम इकाई को अभी जीवाणु कहते हैं। जीवाणु (बैक्टीरिया) इतने छोटे होते हैं कि एक इंच की लाइन में उन्हें क्रमवार बैठाया जाए, तो उनकी संख्या कोई ३०००० बड़े आराम से बैठ जाएगी। बाल की चौड़ाई में 'काकस' नाम के जीवाणु ७५ की संख्या में मजे से बैठे सकते हैं। इतनी सूक्ष्म अवस्था में जीवन का होना भारतीय तत्त्वदर्शन के 'अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा'—यह आत्मा अणु से भी छोटी और विराट् से भी विराट् है—सिद्धांत की ही पुष्टि करता है। आत्मा का अर्थ यहाँ भी जीव-चेतना के उस स्वरूप से है, जो अगणितीय (नान मैथेमेटिकल) सिद्धांतों पर खाता-पीता, पहनता, उठता-चलता, बातें करता, बोलता, हँसता, चिल्लाता, प्रेम-करुणा, दया आदि की अभिव्यक्ति करता पाया जाता है। शरीर से चाहे वह मनुष्य हो या पशु-पक्षी, जिसमें जीव-चेतना के लक्षण हैं, सब आत्मा हैं। विविध रूपों में होते हुए भी विश्वात्मा एक ही है, यह अनुभूति हम चेतना की अत्यंत सूक्ष्म अवस्था तक पहुँचकर ही कर सकते हैं।

यह बात जीवाणु के परिचय से बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। जीवाणु सबसे छोटे जीवों को कहते हैं; उनकी शारीरिक बनावट मनुष्य से बिल्कुल भिन्न होती है। एक नाभिक और उसके किनारे-किनारे प्रोटीन झिल्ली। प्रत्येक किस्म के जीवाणु की प्रोटीन झिल्ली में अपनी तरह के तत्त्व होते हैं, वह जीवाणु की प्रकृति और उसके स्वभाव पर निर्भर है अर्थात् आत्मा के अच्छे-बुरे गुण ही सब जगह साथ रहते हैं।

जीवाणु कितना खाते हैं, इसका कोई अनुमान भी नहीं कर सकता। पेटू और आलसी आदमी जिस प्रकार केवल खाने और बच्चे पैदा करने में निपुण होते हैं, ज्ञान, विद्या, विवेक, सफलता और नई-नई तरह की शोध करने की योग्यताएँ उनमें विकसित नहीं हो पातीं, उसी तरह जीवाणु भी केवल खाते-पीते और बच्चे पैदा करते रहते हैं। जीवाणु एक घंटे में अपने भार से दो गुना अधिक खा डालता है। जब तक भोजन मिलता रहता है, वह खाता ही रहता

है। गंधक, लोहा, अंडे, खून, सड़े-गले पत्ते, लकड़ी और मरे हुए जानवर ही इनका आहार हैं, इस दृष्टि से जीवाणु बहुत कुछ मनुष्यों का हित भी करते रहते हैं। जीवाणु न होते तो पृथ्वी पर गंदगी इतनी अधिक बढ़ जाती कि मनुष्य का जीवित रहना कठिन हो जाता।

कुछ जहरीले जीवाणु कार्बन मोनो ऑक्साइड पर जीवित रहते हैं। यह एक जहरीली गैस है और मनुष्य के लिए अहितकारक। भगवान् शिव की तरह विष से मानव जाति की सुरक्षा का एक महान् परोपकारी कार्य जीवाणु संपन्न करते हैं, जबकि मनुष्य अधिकांश अपने ही निकृष्ट स्वार्थ-भोग में लगा रहता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक, मनुष्य को अमीबा और बंदरों का क्रमिक विकास मानते हैं, उनसे जब अमैथुनी सृष्टि की बात कही जाती है, तब वे भारतीय तत्त्वदर्शन पर आक्षेप करते हैं। आश्चर्य है कि सृष्टि-प्रक्रिया जीवाणुओं पर अमैथुनी होती है; इससे भी वे चेतना के सूक्ष्म-दर्शन की अनुभूति नहीं कर पाते। जीवाणुओं की संतानोत्पत्ति जितनी विलक्षण है, उतनी ही आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली भी। खमीर पैदा करने वाला एक जीवाणु (बैक्टीरिया) ले लें। आप देखेंगे कि नर और मादा दोनों का काम यह एक ही जीवाणु कर देता है और सिद्ध करता है कि आत्मा न तो पुरुष है, न स्त्री। वह तो शुद्ध चेतना मात्र है। स्त्री के शरीर में आ जाने से स्त्री भाव, पुरुष के शरीर में आ जाने पर पुरुष हो जाता है। यही चेतना भैंस के शरीर में भैंस, हाथी के शरीर में हाथी बन जाती है। शरीरों में अंतर है, पर तत्त्वतः आत्मा एक ही प्रकार की चेतना है।

एक जीवाणु बढ़कर जब पूर्ण हो जाता है, तब उसी में से कोंपल फूटती हैं। नाभिक (न्यूक्लियस) थोड़ी देर में बँट जाता है और एक नए जीवाणु का रूप लेता है। जन्म से थोड़ी देर बाद ही वह भी जन्म दर बढ़ाना प्रारंभ कर देता है। इस प्रकार पिता और

पुत्र दोनों बच्चे पैदा करते चले जाते हैं, इस १ से २, २ से ४, ४ से ८ और ८ से १६ इस क्रम में बढ़ते हुए एक सप्ताह में खमीर का जीवाणु १२८ पीढ़ी तैयार कर लेता है। उनमें से लाखों जीवाणु तो एक घंटे में ही पैदा हुए होते हैं। वह भी बच्चे पैदा करने लगते हैं, जबकि उनका बूढ़ा पितामह उन मूर्खों की तरह बच्चा पैदा करने में लगा होता है, जिन्हें यह पता नहीं होता कि बच्चे पैदा करना ही काफी नहीं, उनकी शिक्षा-दीक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका आदि का प्रबंध न हुआ, तो बढ़ी हुई जनसंख्या संकट ही उत्पन्न कर सकती है। जीवाणुओं का अस्तित्व और उनका बेतहाशा प्रजनन भी मनुष्य जाति के लिए खतरनाक ही होता है।

मनुष्य तो भी समझदार है, क्योंकि वह औसतन २५ वर्ष में नई पीढ़ी को जन्म देता है। यह बात दूसरी है कि आजकल दूषित और गरिष्ठ आहार तथा कामुकता के कारण नवयुवक छोटी आयु में ही बच्चे पैदा करने लगते हैं और इस तरह जनसंख्या की वृद्धि के साथ अपना और परिवार का स्वास्थ्य भी चौपट करते हैं अन्यथा २५ वर्ष की आयु स्वाभाविक है। उसमें जनसंख्या और अन्य समस्याओं का संतुलन बना रहता है। यदि मनुष्य इतना विवेक नहीं रख सकता, तो वह भी उन जीवाणुओं की तरह ही समझा जाएगा, जो केवल १५ मिनट बाद एक नया बच्चा पैदा कर देते हैं। २४ घंटों में इनकी ९६ पीढ़ियाँ जन्म ले लेती हैं, मनुष्य को इतनी पीढ़ियों के लिए कम से कम दो हजार वर्ष चाहिए। २४ घंटों की इस अवधि में कुल उत्पन्न संतानों की संख्या $२^{९६}$ (अर्थात् दो-दो को ९६ बार गुणा किया जाए) होगी। अक्षरों में लिखने में यह संख्या थोड़ी समझ में आ रही होगी, पर यदि विधिवत् गुणा करके देखा जाए तो यह संख्या ७९२२८१६२५१४२६०,००,००,००,००,००,००,००० होगी।

अनुमान नहीं कर सकते हैं कि यह तो एक जीवाणु की एक दिन की पैदाइश है। यदि मनुष्य भी ऐसी ही जनसंख्या बढ़ाने की भूल करे, तो पृथ्वी पर आहार, निवास और कृषि उत्पादन आदि की कैसी बुरी

स्थिति हो। सौभाग्य है कि जीवाणु बहुत छोटे हैं, इसलिए उनके सर्वत्र भरे होने से भी हमारे सब काम चलते रहते हैं, पर यह नितांत संभव है कि हमारी प्रत्येक साँस के साथ लाखों जीवाणु भीतर शरीर में आते-जाते रहते हैं। प्रकृति की इस विलक्षणता से मनुष्य की रक्षा भगवान् ही करता है, अन्यथा—यदि विषैले जीवाणुओं की संख्या बढ़ जाती, तो पृथ्वी पर रहने वाले सभी मनुष्यों को उसी तरह नजरबंद रहना पड़ता, जिस तरह चंद्रमा से कोई विषाणु (वायरस) न आ जाए, इस भय से चंद्र-यात्री नील आर्मस्ट्रांग, एडविन एल्ड्रिन और कोलिन्स को चंद्रमा से उतरते ही नजरबंद करके तब तक रखा गया, जब तक उन्हें अनेक प्रकार के रसायनों से धोकर बिल्कुल शुद्ध और साफ न कर लिया गया।

मनुष्य का यह सोचना व्यर्थ है कि अनेक प्रकार के देश और वर्णों में पाए जाने का सौभाग्य केवल उसे ही मिलता है। यह तो सब प्रकृति और परमेश्वर का खेल है, जो जीवन की सूक्ष्म इकाई जीवाणुओं में भी है। इनकी लाखों किस्में हैं और हजारों तरह के आकार। आड़े-टेढ़े, कूबड़े षट्कोण, लंबवत्-विलक्षण शिवजी की बारात। कोई फैले रहते हैं, कोई गुच्छों में समुदाय बनाकर, कोई विष पैदा करते हैं, कोई मनुष्य जाति के हित के काम भी। 'काकस', 'डिप्थीरिया', 'स्फरोचेट्रस' नामक जीवाणु जहाँ उपदंश, फफोले, मवाद आदि पैदा कर देते हैं, वहाँ वे जीवाणु भी हैं जो दूध को दही में बदलकर और भी सुपाच्य और स्वास्थ्यवर्धक बना देते हैं।

जो अच्छे प्रकार के जीवाणु होते हैं, उन्हें काम में लाया जाता है, अच्छे मनुष्यों की तरह सम्मान दिया जाता है, जबकि बुरे और विषैले जीवाणुओं को मारने के लिए संसार भर में इतनी दवाएँ बनी हैं, जितने खराब मनुष्यों के लिए दंड विधान। कहीं अपराधियों को जेल दी जाती है, कहीं काला पानी, कहीं उनका खाना बंद कर दिया जाता है, कहीं सामाजिक संपर्क। उसी तरह औषधियों के द्वारा खराब जीवाणुओं को भी नष्ट करके मारा जाता है। दंड का यह विधान कठोरतापूर्वक न चले, तो उससे मानव-जाति का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाए,

इसीलिए सत्पुरुष के लिए दया और करुणा जितनी आवश्यक है, बुरे व्यक्ति को दंड भी उतना ही आवश्यक है।

हमारे आस-पास के संपूर्ण प्राकृतिक जीवन में यह क्रियाएँ चलती रहती हैं, पर हम जान नहीं पाते। मनुष्य की भौतिक आँखें बहुत छोटी हैं, इसलिए यह दृश्य केवल ज्ञान से ही देख या अनुभव कर सकते हैं, पर यह एक सत्य भी है कि इन अनुभूतियों को योग और साधनाओं द्वारा स्पष्ट बनाया जाता है। मनुष्य अपने को शरीर मानने की भूल को छोड़ता हुआ चला जाए और शुद्ध आत्म-चेतना की अनुभूति तक पहुँच जाए, तो वह चींटी ही नहीं, जीवाणु की उस सूक्ष्म सत्ता तक भी पहुँचकर सब कुछ यंत्रवत् देख सकता है, जिसका व्यास १/३०००० इंच तक होता है। वैज्ञानिक यंत्र इस बात के प्रमाण हैं कि आत्म-चेतना के लिए असंभव कुछ है नहीं।

जीवाणुओं को जिस यंत्र से देखते हैं, उसका नाम है—'माइक्रोस्कोप'। इसमें काँच के ऐसे शीशे (लेंस) लगाए जाते हैं, जो प्रकाश किरणों के समूह (बीम) को एक छोटे से छोटे बिंदु से गुजार सकें। प्रकाश की ऐसी बलवान् किरणें छोटी से छोटी वस्तु को इतना बड़ा करके दिखा देती हैं, जितना बड़ा आकार उस वस्तु का कभी संभव ही नहीं हो। उदाहरण के लिए यदि ५ फुट के व्यक्ति को यदि १००० गुना बढ़ाकर दिखाया जाए तो उसकी आकृति ५००० फुट की दिखाई देगी अर्थात् वह मनुष्य पर्वताकार लगेगा। अब तो 'इलेक्ट्रॉनिक माइक्रोस्कोप' बन गए हैं। एक बार परीक्षण के तौर पर १२ इंच के बाल को 'इलेक्ट्रॉनिक माइक्रोस्कोप' से देखा गया, तो उसकी बढ़ी हुई लंबाई २० मील थी और चौड़ाई २० फुट। इतना बड़ा बाल संसार में शायद ही कभी संभव हो, पर प्रकाश किरणों की शक्ति ने यह संभव कर दिया। यदि आत्म-चेतना भी इतनी सूक्ष्म की जा सके, तो वह एक परमाणु में ही संपूर्ण ब्रह्मांड को देख सकती है। भारतीय योग-दर्शन और चित्त-निरोध का यही उद्देश्य है कि मनुष्य अपने मन की सूक्ष्मता में पैठकर विराट् ब्रह्मांड का दिग्दर्शन करे, तभी विश्व के यथार्थ को समझा जा सकता है। जीवाणुओं की परीक्षा और

उन पर प्रयोग ऐसी ही स्थिति में बन पड़ता है, जब उन्हें माइक्रोस्कोप द्वारा कई हजार और लाख गुना बढ़ाकर देखते हैं, अन्यथा उनके अस्तित्व का ही पता न चलता। सूक्ष्मता का दर्शन भी उसी प्रकार आत्मा के विकास के द्वारा ही हो सकता है।

मनुष्य के से शरीर-जटिलता से मुक्त अत्यंत सूक्ष्म जीवाणु के अध्ययन से यह सारी बातें सत्य पाई गईं, कई जीवाणु जिन्हें गीले स्थान में ही रहने का अभ्यास था, उन्हें सूखे में लाया गया, तब भी उनके जीवन को कोई संकट नहीं उपस्थित हुआ। वे २० वर्ष तक बराबर आर्द्रता की प्रतीक्षा करते रहे। इसी प्रकार उन पर तेज से तेज सूर्य की धूप का भी प्रभाव नहीं होता, ठंडे से ठंडे स्थान में भी जीवाणु मरते नहीं और उन्हें कुछ खाने को न मिले, तो भी वे अपना जीवन धारण किए रहते हैं।

जीवन का उदय और विकास

धरती की उष्णता जब शांत होकर जीवधारियों के योग्य हुई, तो सबसे पहले जीव द्रव्य-प्रोटोप्लाज्म उत्पन्न हुआ। प्रथम जीवधारी जीव द्रव्य की बूँदों के सम्मिश्रण से नहीं बना वरन् वह एक स्वतंत्र सत्ता संपन्न एक कोषीय जीव था; उपलब्ध 'अमीबा' उसी स्तर के जीवों का एक जीव है। 'अमीबा' नदी-तालाबों, नालियों एवं कीचड़ जैसे स्थानों में पाया जाता है। इसका आकार प्रायः इंच के सौवें भाग के बराबर होता है।

इसके ऊपर एक पतली झिल्ली चढ़ी रहती है, जिसे प्लाज्मा-लेमा कहते हैं। इसमें कई-कई शंकुपाद हाथी की सूँड़ जैसे निकले रहते हैं। वह अपना आहार इन्हीं के सहारे पकड़ता और खींचता है।

प्रौढ़ अमीबा अपने को ही दो टुकड़ों में विभाजित कर लेता है, यह है उसकी वंश परंपरा का क्रम। विभाजन से पूर्व वह अपनी आकृति को गोलाकार बनाता है, इसके बाद मध्य में पतला होते हुए दो टुकड़ों में बँट जाता है। इस भाँति विभाजन-प्रजनन कर्म में उसे प्रायः डेढ़ घंटा लगता है।

भौतिक और रसायन शास्त्र के परमाणुओं की चर्चा आमतौर से होती रहती है। ठीक इसी प्रकार सजीव जगत् के परमाणु भी कई प्रकार के होते हैं, इनमें से एक का नाम है—'डायटम'। डायटम का अर्थ है—'दो परमाणुओं की शक्तिवाला'। यों यह वनस्पति वर्ग में आते हैं, पर इसमें पेड़-पौधों जैसा प्रत्यक्ष लक्षण एक भी दीख नहीं पड़ता। इनका आकार इंच के पचासवें भाग से लेकर इंच के छह हजारवें भाग तक होता है। वे सूक्ष्मदर्शी यंत्रों की सहायता से ही देखे जा सकते हैं।

आकृति में ये इतने सुंदर और इतने चित्र-विचित्र होते हैं कि देखने वाला मुग्ध होकर रह जाता है। लगता है किसी बहुत ही कुशल कारीगर ने पच्चीकारी, मीनाकारी की एक से एक सुंदर डिजाइनों के रूप में इन्हें गढ़ा है। गुलदस्ते, रत्नजटित हार, डिजाइनदार कालीन, केकड़ा, कानखजूरा, स्फटिक, कच्छप जैसे प्राणियों की तथा कई प्रकार के पुष्प गुच्छकों के रूप में इन्हें सूक्ष्मदर्शक यंत्र से ही देखा जा सकता है। देखने वाले को अचंभा होता है कि इतने छोटे असमर्थ और अविकसित प्राणी पर नियति ने कितनी सुंदरता से अपनी कलाकृति का अनुदान बिखेरा है ?

इनकी चाल की विचित्रता वैज्ञानिकों के लिए न केवल आश्चर्य का विषय है, वरन् बहुत कुछ सिखाती भी है। कितने ही यंत्र का गतिक्रम निर्धारण करने में इन छोटे डायटम ने महत्त्वपूर्ण मार्ग-निर्देशन किया है। इनमें से कुछ टैंक की तरह, कुछ जलयान की तरह, कुछ राकेट की तरह और कुछ बिजली की तरह आगे-पीछे हटते-बढ़ते अपनी गति का प्रदर्शन करते हैं।

अपने आपको दो टुकड़ों में विभाजित करके ये एक से दो बनते हैं। इसी क्रम में इनकी वंश-वृद्धि होती रहती है।

जड़ अंड 'परमांड' के नाम से पुकारे जाते हैं। इन्हें प्राणधारियों में काम कर रहे चेतन अंडजों की कोशिकाएँ कहते हैं। यों ये कोशिकाएँ भी अंडजों से ही स्वनिर्मित हुईं, पर उनमें चेतना का अतिरिक्त अंश मिल जाने से उन्हें दूसरे वर्ग में रखा गया। दूसरे

शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि जड़ जगत् अंडजों से और चेतन-सृष्टि जीवाणुओं एवं कोशिकाओं से बनी है। जिस प्रकार परमाणु के भीतर भी कई अनोखी सृष्टि होती है, उसी प्रकार कोशिकाओं के भीतर भी एक पूरा चेतन सरोवर भरा हुआ है और इन दोनों को इकाइयाँ माना जाता है, पर वे अविच्छिन्न नहीं हैं। उनके भीतर भी विश्लेषण करने जैसे असीम और अगणित तत्त्व एवं भेद-प्रभेद भरे पड़े हैं। इस लघुता का अंत भी विराट् के अंत की तरह अभी तो बुद्धि की सीमा से बाहर ही दीखता है। जितना खोलते हैं उतनी ही एक के भीतर एक नई पर्त निकलती चली आती हैं।

सभी पौधे और प्राणी कोशिकाओं से बने हैं। आर्ध्यलस जेली जैसे चिपचिपे पदार्थ से भरी होती हैं। ये कोशिकाएँ अपनी पूर्ववर्ती कोशिकाओं के विभाजन से बनी होती हैं और विभाजन क्रम ही उनकी आगे की वंश-वृद्धि करता रहता है। प्राणी के वृद्धि, विकास, आनुवंशिकता, बलिष्ठता, दुर्बलता, जरा, मृत्यु, मनःस्थिति आदि का आधार इन कोशिकाओं की आंतरिक संरचना पर ही निर्भर रहता है। इस प्रकार हम चाहें तो इन कोशिकाओं को भी एक स्वतंत्र जीवधारी जैसी संरचना कह सकते हैं। जीव का समान स्वरूप इन जीवाणु कोशिकाओं के समूह संगठन का ही दूसरा नाम है।

अमीबा सरीखे कुछ प्राणी केवल एक ही कोश के बने होते हैं। अन्य विकसित और बड़े प्राणियों से उनकी संख्या अधिक होती है। एक सौ साठ पौंड के वयस्क पुरुष में प्रायः ६० हजार अरब तक कोशिकाएँ होती हैं। इनके भीतर भरे हुए पदार्थ को प्रोटोप्लाज्म कहते हैं। इसके ऊपर चढ़ी हुई झिल्ली इतनी लचीली होती है कि उसमें होकर आवश्यक आदान-प्रदान होता रहता है किंतु अवांछनीय प्रवेश को वह रोके भी रहती है। प्रोटोप्लाज्म को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) साइटोप्लाज्म (२) न्यूक्लीयस। साइटोप्लाज्म में लवण, वसाएँ, शर्करा, प्रोटीन, खनिज जैसे अनेक पदार्थ सम्मिश्रित होते हैं। न्यूक्लीयस उसी के भीतर एक अचेतन मृत सघन गेंद की तरह रहता है। उसकी संरचना क्रोमोसोम समूह के न्यूक्लीओलस पदार्थों से होती

है। मानव शरीर की कोशिकाओं में ४६ क्रोमोसोम होते हैं। इनके भी बहुत छोटे-छोटे कण होते हैं, जिन्हें 'जीन' कहते हैं। वंश परंपरा से वे उत्तराधिकार इन जीवों द्वारा ही भावी पीढ़ी पर उतरते हैं। इन जीवों को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। उनके संबंध में अधिक बारीकी तथा तत्परता के साथ खोज की जा रही है। यदि गहराई में उतरा जाए तो यह जीन भी एक स्वतंत्र सत्ता कहे जा सकने जैसी स्थिति में है।

इससे भी आगे बढ़कर जब निर्जीव समझे जाने वाले रासायनिक पदार्थों को देखते हैं, तो वे जड़-अचेतन स्तर की दयनीय और चेतना जगत् में अत्यंत पिछड़े हुए प्रतीत होते हैं। बहुत करके तो उन्हें जड़ कहकर चेतन जगत् से बहिष्कृत ही मान लिया जाता है। पर विज्ञान के अन्वेषणों ने बताया है कि इन रासायनिक पदार्थों में वह अद्‌भुत शक्ति भरी पड़ी है जिससे वे स्वयं निर्जीव कहलाते इस जीवन को—जीवधारियों को—उत्पन्न कर सकें। पर इस शक्ति को वे तभी कार्यान्वित कर सकते हैं, जब परस्पर घुल-मिल जाने के लिए तत्पर हो जाते हैं। अलग-अलग रहने की पृथकतावादी नीति जब तक वे अपनाए रहते हैं तभी तक वे जड़ हैं, पर जिस क्षण वे रासायनिक द्रव संतुलित रूप से एकत्रित होते हैं, उसी क्षण द्रव के रूप में चेतना का संचार होने लगता है।

जीव-द्रव्य प्रोटोप्लाज्म कुछ रासायनिक तत्त्वों का सम्मिश्रण मात्र समझा जाता है। कार्बन, क्लोरीन, आयोडीन, मैग्नीशियम आदि रासायनिक पदार्थों का समन्वयीकरण इस जीव-द्रव्य को विनिर्मित करने की भूमिका संपादित करता है।

हमें चाहिए कि न तो अपने को सृष्टि का सबसे बड़ा प्राणी मानें और न प्रकृति का वरद-पुत्र। न अपनी उपलब्धियों पर अहंकार करें, न उद्धत बनें। साथ ही छोटे प्रतीत होने वालों को हेय दृष्टि से भी न देखें, न उन्हें अकिंचन समझें, न दयनीय, दुर्भागी, वरन् यही समझते रहें कि सृष्टि के प्रत्येक घटक में ईश्वर की दिव्य ज्योति विद्यमान है। परमाणुओं से लेकर जीवाणुओं तक हर लघुत्तम समझी जाने वाली इकाई में प्रकृति के अद्‌भुत अनुदान भरे पड़े हैं।

शक्ति का स्रोत !

पदार्थों को बड़ी मात्रा में एकत्रित करके अधिक वैभव, बल या सुख पाया जा सकता है; यह मान्यता अब बहुत पुरानी हो गई। मात्रा की अपेक्षा अब गुण को महत्त्व मिलने लगा है, जो उचित भी है। 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया' वाली कहावत वहाँ लागू होती है, जहाँ यह सोचा जाता है कि जो जितना बड़ा है—साधन-संपन्न है, वह उतना ही सशक्त है। शक्ति का स्रोत हर छोटे पदार्थ, व्यक्ति एवं साधन में मौजूद है। यदि हम बारीकी से ढूँढ़ना, परखना और सही रीति से प्रयुक्त करने की विद्या जान जाएँ, तो थोड़ी-सी सामग्री से ही प्रचुर शक्ति संपन्न बन सकते हैं। हमारे छोटे-छोटे व्यक्तित्व ही ऐसे महान् कार्य संपन्न कर सकते हैं, जिन्हें देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़े।

अणु शक्ति इस तथ्य को प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित करती है। पदार्थ का छोटे से छोटा घटक 'अणु' कितना सशक्त है और वह कितने बड़े कार्य कर सकता है, इसे देखने, समझने पर इस सच्चाई को हृदयंगम करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि छोटा समझा जाने वाला व्यक्ति भी यदि अपने को समझ सके और तो जो कुछ वह है उतने का ही सही उपयोग कर सके, तो वह कर सकता है, जिसके लिए सामान्य बुद्धि बहुत बड़े साधनों की आवश्यकता अनुभव करती है।

अब परमाणु पदार्थ की सबसे छोटी इकाई नहीं रहा, उसके भीतर १०० से भी अधिक ऐलिमेंटरी पार्टिकल—प्राथमिक कण खोज निकाले गए हैं। इनको भी अंतिम इकाई नहीं कहा जा सकता। इनके भीतर जो सूक्ष्मता के अनुपात से अधिक रहस्यमय स्पंदन, स्फुरण भरे पड़े हैं, उनका रहस्योद्‌घाटन होना अभी शेष है। अब विज्ञान अधिक गहराई में प्रवेश कर रहा है। पिछले दशकों के प्रतिपादन अब झुठलाए जा रहे हैं। यथा—'ईथर' की कल्पना का अस्तित्व पिछले दिनों मोर्स तथा माइकेलसन ने सिद्ध कर दिया है। शब्द तरंगों के वहन करने वाले इस ईथर की खोज पर फिट्‌स गेराल्ड और लारेंटज को बहुत ख्याति मिली थी और उनकी शोध को बड़ी उपयोगी मानकर सर्वत्र

मान्यता मिली थी, पर अब उसके नकारात्मक प्रबल प्रतिपादन ने विज्ञान की अन्य मान्यताओं के भी खोखली होने की आशंका उत्पन्न कर दी है। आइंस्टाइन का सापेक्षवाद अब उतना उत्साहवर्धक नहीं रहा। उसमें बहुत-सी शंकाओं और त्रुटियों की संभावना समझी जा रही है। गैलीलियो-न्यूटन आदि की मान्यताएँ अब पुरातनपंथी वर्ग की कल्पनाएँ ठहराई जा रही हैं।

महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में अपने ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह संसार छोटे-छोटे कणों से मिलकर बना है। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक देमोक्रितु भी अणुवाद का प्रतिपादन करते थे। इससे पूर्व यह जगत् पंचतत्त्वों का बना माना जाता था। अब पंचतत्त्व का बहुत मोटा वर्गीकरण है। पानी अपने आप में मूल सत्ता नहीं रहा, उसे कुछ गैसों का सम्मिश्रण मात्र स्वीकार किया गया है। पुरानी मान्यताएँ अपने समय में बहुत सम्मानित थीं, पर वे अब त्रुटिपूर्ण ठहरा दी गई हैं।

न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत एक सीमा तक सही है। यदि कोई राकेट प्रकाश की गति से एक सेकंड में ३,००,००० किलोमीटर उड़ने लगे, तो वे गुरुत्वाकर्षण नियम गलत हो जाएँगे।

रेडियम धातु द्वारा उत्पन्न होने वाले विकिरण की खोज होने तक यही मान्यता थी कि पदार्थ को ऊर्जा में नहीं बदला जा सकता है, दोनों का अस्तित्व स्वतंत्र है। पर अब अणु विस्फोट के पश्चात् यह स्वीकार कर लिया गया है कि पदार्थ और ऊर्जा वस्तुतः एक ही सत्ता के दो रूप हैं और उन्हें आपस में बदला जा सकता है। क्वांटम और मैक्सवेल के सिद्धांतों को आइंस्टाइन की नई खोजों ने बहुत पीछे छोड़ दिया है। चुंबक संबंधी पुरातन मान्यताओं में रदरफोर्ड ने नए तथ्य जोड़े। उन्होंने सिद्ध किया कि रेडियोधर्मी विकिरण का एक भाग जब एक दिशा में मुड़ता है, तो 'अल्फा', विपरीत दिशा में मुड़ता है तो 'बीटा' और बिल्कुल न मुड़ने वाला प्रवाह 'गामा' किरणों के रूप में निःसृत होता है। यह तीनों प्रवाह अपने-अपने ढंग के अनोखे हैं। अल्फा विकिरण को कागज की एक पतली झिल्ली में रोका जा सकता है

किंतु बीटा विकिरण अल्यूमिनियम की कुछ मिलीमीटर मोटी चादर को भी पार कर सकता है। गामा विकिरण को शीशे की मोटी परत ही शोषित कर सकती है।

पुरानी मान्यता का परमाणु ठोस था। पीछे उसमें भी ढोल की पोल पाई गई है। आकाश में घूमने वाले पिंडों की तरह परमाणु के गर्भ में कुछ प्राथमिक कण भ्रमण तो करते हैं, फिर भी उसमें खाली जगह बहुत बच जाती है, यदि इलेक्ट्रॉन रहित परमाणुओं के नाभिकों को पूरी तरह सटाकर दबाया जा सके, तो एक घन सेंटीमीटर नाभिकीय द्रव्य का भार १० करोड़ टन के लगभग हो जाएगा।

पुरानी मान्यताओं के अनुसार जीव तुच्छ, हेय, पापी, पतित भव-बंधनों में जकड़ा हुआ—जन्म-मरण के कुचक्र में बँधा हुआ, नगण्य था। उसे अपने उद्धार-उत्थान के लिए किसी गुरु-मंत्र या देवता की सहायता अपेक्षित थी, पर जब आत्मसत्ता में सन्निहित गरिमा पर विचार किया जाता है, तो स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि आत्मा अणु होते हुए भी परमात्मा—विभु की समस्त विशेषताएँ अपने भीतर छिपाए हुए हैं। जीवात्मा के संबंध में अनेक पुरातन मान्यताओं को निरस्त करते हुए वेदांत ने 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म'—'तत्त्वमसि', 'सोऽहम्', 'शिवोहम्' का उद्घोष किया है, तो वह अहंमन्यता नहीं—जैसी कि तथ्यपूर्ण यथार्थता परमाणु के संबंध में सामने आई है। धूल मिट्टी का एक अत्यंत छोटा घटक होने के कारण उसका प्रत्यक्ष मूल्य नगण्य है, पर यदि उसका वैज्ञानिक ढंग से उपयोग किया जाए, तो उससे समस्त संसार का अभाव-दारिद्र दूर हो सकता है। शक्ति का असाधारण स्रोत करतलगत किया जा सकता है।

अणु शक्ति की झाँकी तो कर ली गई है, पर साथ ही यह खतरा भी सामने है कि विस्फोट से जो हानिकारक विकिरण उत्पन्न होगा, उस पर नियंत्रण कैसे किया जा सकेगा। अणु विज्ञान के उदय काल में यह कल्पना की गई थी कि चने की बराबर प्लूटोनियम के इंजिन लगाकर मोटरें चलाई जा सकेंगी। पर वह अब पूरी होती नहीं दीखती, क्योंकि अणु विस्फोट में जो नाभिकीय

विकिरण फैलता है, वह न केवल पदार्थों को वरन् जीव कोषों को भी नष्ट करके रख देता है। उससे बचाव करने के लिए चने की बराबर अणु इंजन के लिए किले जैसी मोटी दीवारें खड़ी करनी पड़ेंगी। ऐसी दशा में वह कल्पना की गई हल्की और सस्ती अणु मोटर, मात्र मस्तिष्कीय उड़ान बनकर ही रह जाएगी।

फिर भी अणु बिजलीघर बनाए जा रहे हैं और प्रयत्न किया जा रहा है कि इस शक्ति को वशवर्ती बनाकर मनुष्य की आवश्यकता को पूरा किया जाए। इस दिशा में सफलता भी मिली है और आशा भी बँधी है। वह दिन दूर नहीं जब हानिरहित अणु बिजलीघर सामान्य बिजलीघरों की तरह ही कार्यान्वित होने लगेंगे। अब तक जितना 'यूरेनियम' प्राप्त कर लिया गया है, वह ६०० खरब टन कोयले से मिलने वाली शक्ति के बराबर है।

अणु ऊर्जा—एटामिक एनर्जी—हमारे लिए कितने ही उपयोगी प्रयोजन सिद्ध कर सकती है। चिकित्सा जगत्, कृषि उद्योग, यातायात—युद्ध-कौशल आदि कितने ही प्रयोजन उससे चमत्कारी स्तर पर पूरे किए जा सकते हैं।

कैंसर चिकित्सा के लिए अणु शक्ति द्वारा विनिर्मित विशिष्ट 'कोबाल्ट' बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। जहाँ एक्स-रे यंत्र काम नहीं करते, वहाँ 'गेइवार काउंटर' वस्तु-स्थिति का पता आसानी से लगा लेता है। रेडियो सक्रिय अणुओं के द्वारा एनीमिया—रक्ताल्पता का इलाज सफलतापूर्वक होने लगा है। 'पैलीसाइथोमिया वीरा' नामक कष्टसाध्य रक्त-रोग के उपचार में रेडियो सक्रिय फास्फोरस के इंजेक्शन सफल रहे हैं। एजिना पैक्टोरिस नामक हृदय रोग में तथा थाइराइड कैंसर में रेडियो सक्रिय आयोडीन अच्छा काम करता है। शरीर के पोले भागों में जहरीला पानी भर जाने की स्थिति रेडियो सक्रिय स्वर्ण ट्यूमर और आँख के कैंसर में रेडियो सक्रिय स्ट्रोशियम ने चमत्कार दिखाया है। रेडियो सक्रिय आइसोटोपों से मनुष्यों तथा पशुओं के कितने ही रोगों की सफल चिकित्सा होने लगी है। अमेरिका में इस प्रकार के उपचारों के लिए विशेष रूप से अतिरिक्त आणविक अस्पताल ही खुले हुए हैं।

कृषि क्षेत्र में अणु ऊर्जा की सहायता से किस प्रकार अधिक मात्रा में और अधिक पौष्टिकता युक्त अन्न, शाक, फल आदि उगाने के संबंध में सुविस्तृत खोज हो रही है और पता लगाया जा रहा है कि बलिष्ठ पौधे, सशक्त खाद, कीड़ों से फसल की रक्षा, अधिक उत्पादन के लिए अणु ऊर्जा किस प्रकार और किस हद तक सहायक हो सकती है। शोध-संस्थानों को आशा है कि अणु शक्ति की सहायता से पौधों की ऐसी नस्लें पैदा की जा सकेंगी जो सर्दी, गर्मी, पानी और खाद की कमी तथा कीड़ों के आक्रमण का सामना करते हुए अपनी प्रगति का स्तर बनाए रह सकें।

अमेरिकी एटामिक एनर्जी एजेंसी के अध्यक्ष ग्लीन सीवर्स ने अणु विज्ञानियों की एक अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी में कहा था—अणु शक्ति की खोज बड़े मौके पर हो गई। यदि उसमें विलंब हुआ होता, तो ईंधन के अभाव में समस्त संसार की प्रगति का क्रम बेतरह ठप्प पड़ जाता।

अभी अणु शक्ति उत्पादन में यूरेनियम धातु का उपयोग प्रधान रूप से होता है, पर आगे चलकर उसका स्थान थोरियम ले लेगा। यूरेनियम की कमी है, पर थोरियम आसानी से और अधिक मात्रा में उपलब्ध किया जा सकेगा।

अब कोयले की कमी पड़ने की भावी चिंता से छुटकारा पाया जा सकेगा। ६ पौंड यूरेनियम से इतनी ऊर्जा प्राप्त की जा सकेगी, जितनी १५०० टन कोयला जलाने पर प्राप्त होती है।

अतीत काल में जब आग मनुष्य के हाथ लगी थी, तब भी उसके सामने यही समस्या थी कि उसकी हानियों से कैसे बचा जाए और लाभ कैसे उठाया जाए ? देर-सबेर में उसने इसका रास्ता भी निकाल लिया। अब हम आग से बेखटके लाभ उठाते हैं और उसकी भयंकर संभावना से अपना बचाव कर लेते हैं। अगले दिनों अणु ऊर्जा के संबंध में प्रस्तुत कठिनाई को भी हल कर लिया जाएगा और इस महादैत्य को मनुष्य की सेवा करने के लिए बाध्य किया जा सकेगा।

मनुष्य के भीतर जड़ अणु-शक्ति से भी उच्चकोटि की जीवाणु शक्ति मौजूद है। जड़ से चेतन की गरिमा सर्वविदित है। अणु से जीवाणु की क्षमता अत्यधिक प्रचंड होना स्वाभाविक है। अणु समूह का थोड़ा-सा यूरेनियम जब इतनी शक्ति उत्पन्न कर सकता है, तो असंख्य जीवाणुओं के समूह मानवी व्यक्तित्व की क्षमता कितनी महान् हो सकती है, इसका अनुमान लगाया जाना कुछ कठिन नहीं होना चाहिए।

प्रकृति प्रदत्त शक्ति स्रोतों में झंझावात, कबंध, आँधी, तूफान तथा ज्वार-भाटे अद्‌भुत हैं। इनमें सन्निहित शक्ति को यदि संग्रहीत करके किसी उपयोगी दिशा में लगाया जा सके तो उससे भी बहुत काम चल सकता है। औसत दर्जे की आँधी में प्रायः एक हजार अणु बमों के बराबर शक्ति होती है।

निस्संदेह इस जड़ जगत् में सर्वत्र शक्ति का सागर भरा पड़ा है। पदार्थ के कण-कण में से ऊर्जा की प्रचंड लहरें उठ रही हैं। इस बिखराव को समेटने और सही ढंग से प्रयुक्त करने की विद्या जब मनुष्य के हाथ लग जायेगी, तो फिर अशक्तिजन्य सभी कठिनाइयों का निवारण हो जायेगा। मनुष्य के हाथ में सामर्थ्य का अजस्र स्रोत होगा।

निस्संदेह यदि चेतना जगत् में संव्याप्त आनंद और उल्लास से लेकर सिद्धियों, समृद्धियों और विभूतियों के वरदानों की उपलब्धि जब मनुष्य के हाथ में आ जाएगी, तब वह जीव चेतना के प्रत्येक घटक जीवाणु में समायी सत्ता को देखने, परखने, समेटने और प्रयुक्त करने की कला में निष्णात बन जायेगा। इस स्थिति में पहुँचकर ही हम नर से नारायण रूप में विकसित हो सकेंगे और अपूर्णता से पीछा छुड़ाकर पूर्णता संपन्न होने का जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे।

❑ ❑

अनुदान और दिशा प्रेरणा

■

प्राणियों की आवश्यकताएँ तथा इच्छाएँ उनकी शारीरिक, मानसिक शक्तियों तथा भौतिक परिस्थितियों का सृजन करती हैं। इस तथ्य को, थोड़ा अधिक गहराई से विचार करने पर सहज ही जाना जा सकता है और उसके अनेक प्रमाण पाए जा सकते हैं।

समझा जाता था कि वर्षा होने से वृक्ष-वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, पर पाया यह गया है कि वृक्षों की आवश्यकता उधर उड़ने वाले बादलों को पकड़कर घसीट लाती है और उसे अपने क्षेत्र पर बरसाने के लिए बाध्य करती है। कुछ दिन पूर्व जहाँ बड़े रेगिस्तान थे, पानी नहीं बरसता था और बादल उधर से सूखे ही उड़ जाते थे, पर अब जब वहाँ वन लगा दिए गए हैं, तो प्रकृति का पुराना क्रम बदल गया और अनायास ही वर्षा होने लगी है। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों के बारे में अब यह नया सिद्धांत स्वीकार किया गया है कि वहाँ की वन संपदा बादलों पर बरसने के लिए दबाव डालती है। बादलों की तुलना में चेतना का अंश वृक्षों में अधिक है, इसलिए वे विस्तार में बादलों से कम होते हुए भी सामर्थ्य में अधिक हैं। अतएव दोनों की खींचतान में चेतना का प्रतिनिधि वृक्ष ही भारी पड़ता है।

आत्मरक्षा प्राणियों की एक महती आवश्यकता है। जीवों में जागरूकता और पराक्रम-वृत्ति को जीवंत बनाए रखने के लिए प्रकृति ने शत्रु पक्ष का निर्माण किया है। यदि सभी जीवों को शांतिपूर्वक और सुरक्षित रहने की सुविधा मिली होती, तो फिर वे आलसी और प्रमादी होते चले जाते; उनमें जो स्फूर्ति और कुशलता पाई जाती है, वे या तो विकसित ही न होतीं या फिर जल्दी ही समाप्त हो जातीं।

सिंह, व्याघ्र, सुअर, हाथी, मगर आदि विशालकाय जंतु अपने पैने दाँतों से आत्मरक्षा करते हैं और उनकी सहायता से आहार भी प्राप्त करते हैं। साँप, बिच्छू, बर्र, ततैया, मधुमक्खी आदि अपने डंक चुभोकर शत्रु को परास्त करते हैं। घोंघा, केंचुआ आदि के शरीर से जो दुर्गंध निकलती है, उससे शत्रुओं को नाक बंद करके भागना पड़ता है। गैंडा, कछुआ, सीपी, घोंघा, शंख आर्मेडिलो आदि की त्वचा पर जो कठोर कवच चढ़ा रहता है, उससे उनकी बचत होती है। टिड्डे का घास का रंग, तितली का फूलों का रंग, चीते का पेड़-पत्तों की छाया जैसा चितकबरापन और गिरगिट मौसमी परिवर्तन के अनुरूप अपना रंग बदलता है। ध्रुवीय भालू बर्फ जैसा श्वेत रंग अपनाकर, समीपवर्ती वातावरण में अपने को आसानी से छिपा लेते हैं और शत्रु की पकड़ में नहीं आते। कंकड़, पत्थर, रेत, मिट्टी, कूड़ा-करकट आदि के रंग में अपने को रंग कर कितने ही प्राणी आत्मरक्षा करते हैं। शार्क मछली बिजली के करेंट जैसा झटका मारने के लिए प्रसिद्ध है। कई प्राणियों की बनावट एवं मुद्रा ही ऐसी भयंकर होती है कि उसे देखकर शत्रु को बहुत समझ-बूझकर ही हमला करना पड़ता है।

शिकारी जानवरों को अधिक पराक्रम करना पड़ता है। इस दृष्टि से उन्हें दाँत, नाखून, पंजे ही साधारण रूप से मजबूत नहीं मिले, वरन् पूँछ तक की अपनी विशेषता है। यह अनुदान उन्होंने अपनी संकल्प शक्ति के बल पर प्रकृति से प्राप्त किए हैं।

शेर का वजन अधिक से अधिक ४०० पौंड होता है, जबकि गाय का वजन उससे दूना होता है। फिर भी शेर पूँछ के संतुलन से उसे मुँह में दबाए हुए १२ फुट ऊँची बाड़ को मजे में फाँद जाता है।

प्राणियों की शरीर रचना और बुद्धि-संस्थान भी अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है, पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता है—संकल्प-शक्ति, इच्छा तथा आवश्यकता। यह संवेदनाएँ जिस प्राणी की

जितनी तीव्र हैं, वे उतने ही बड़े अनुदान प्रकृति से प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य को जो विभूतियाँ उपलब्ध हैं, उनका कारण उसकी बढ़ी हुई संकल्प शक्ति ही मानी गई है।

इसके अलावा प्रकृति ने अपनी संतानों के लिए विशेष व्यवस्था भी कर रखी है। उन्हें अनेकानेक अनुदान दिए हैं, जिनके कारण क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी भी अपनी जीवन यात्रा बेखटके-निर्बाध पूर्ण कर लेता है।

सभी संतानें प्रिय

उदाहरण के लिए कई जीव-जंतु क्षुद्र लगते हैं। पक्षी ही देखने में तुच्छ लगते हैं। मनुष्य की तुलना में उन्हें बुद्धि नहीं मिली और न उतनी विकसित इंद्रियाँ ही। फिर भी यह नहीं मान बैठना चाहिए कि भगवान् ने उनकी उपेक्षा ही की है। बारीकी से देखने पर प्रतीत होता है कि उनमें ऐसी कितनी ही विशेषताएँ हैं, जिनमें मनुष्य काफी पिछड़ा हुआ है। यदि वे क्षमताएँ मनुष्य को मिली होतीं, जो तुच्छ समझे जाने वाले पक्षियों को प्राप्त हैं, तो वह तथाकथित देवताओं के वैभव से कहीं अधिक ऊँची स्थिति में रहा होता।

भगवान् को अपनी पक्षी संतानें प्यारी हैं। उन्होंने किसी को कोई खिलौने खेलने के लिए दिया है, तो किसी को कोई। इस सृष्टि में न तो कोई सर्वथा साधन विहीन है और न सर्वसंपन्न। हर प्राणी को उसकी आवश्यकता के अनुरूप इतने और ऐसे साधन प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं, जिनसे वह अपनी जीवनचर्या संतोष और प्रसन्नता के साथ चला सकें। पक्षियों की दुनिया पर नजर डालते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि वे भी भगवान् के कृपा पात्र हैं और अपनी आवश्यकता के अनुरूप उतने साधन संपन्न हैं कि किन्हीं-किन्हीं उपलब्धियों में मनुष्य को छोटा और पिछड़ा हुआ सिद्ध कर सकें।

गरुड़ की चाल साधारणतया ६५ से ११० मील प्रति घंटे होती है। पर जब वह शिकार पर झपटता है, तो वह चालें २०० मील की

हो जाती हैं। यों गरुड़ का वजन पाँच से दस किलो तक का होता है, पर वह अपने से ड्योढ़े वजन के शिकार को पंजों में दबाकर घोंसले की ओर लंबी उड़ान उड़ता चला जाता है। गरुड़ अंडे चुराने में भी नहीं चूकता।

वृक्षों पर रहने वाला आस्ट्रेलिया का टेडीबियर अपनी पीठ पर आधे दर्जन तक बच्चे लादे फिरता है और चढ़ने-उतरने में ऐसी सावधानी बरतता है कि कोई बच्चा गिरने न पाए।

अमेरिका के ओपासय चूहों के आठ-दस बच्चे अपनी माँ की पीठ पर लदे फिरते हैं। यह बच्चे इतने चतुर होते हैं कि अपनी पूँछ माता की पूँछ से लपेटकर जंजीर-सी बना लेते हैं और गिरने के खतरे से बचकर सवारी का आनंद लेते हैं।

शरीर के अनुपात से संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली चिड़िया 'हमिंग बर्ड' मैक्सिको खाड़ी और पनामा नहर के तटों पर पाई जाती है। इसकी जिजीविषा कार्यपरायणता देखते ही बनती है। शरीर की लंबाई ३ इंच किंतु चोंच पाँच इंच की। यह इतनी पेटू होती है कि निरंतर खाते रहते बिना उसे चैन ही नहीं पड़ता। अपने शरीर के वजन से वह तीन गुना आहार एक दिन में करती है। इस आहार को जुटाने में उसे अत्यंत व्यस्त और सक्रिय रहना पड़ता है। इसी अनुपात से यदि मनुष्य को तत्पर रहना पड़े, तो उसे सामान्य शक्ति व्यय की अपेक्षा ४५० गुनी शक्ति खर्च करनी पड़े। एक साथ बहुत-सा आहार पकड़ और निगल सके, इसी सुविधा के लिए प्रकृति ने उसे इतनी लंबी चोंच दी है।

'हमिंग बर्ड' जब सोती है, तब उसकी नींद इतनी गहरी होती है कि कोई चाहे तो ढेले की तरह उसे उठा ले। शरीर मुरदे जैसा निःचेष्ट हो जाता है। करवट तो वह बदलती ही नहीं।

हैलीकॉप्टर सिद्धांत पर उसके पंख अन्य चिड़ियों की अपेक्षा कुछ अलग ही ढंग के बने हैं। वह आगे-पीछे, तिरछी, जमीन से सीधी आकाश को, आकाश से सीधी जमीन पर उड़

सकती है और हवा में स्थिर भी रह सकती है। फूलों की डालियों, पेड़ों की शाखों पर जब वह आहार ले रही होती है, तब भी बैठती नहीं वरन् उड़ती ही रहती है। उस समय भी उसके पंख एक सेकिंड में ५ बार की आश्चर्यजनक गति से हरकत कर रहे होते हैं।

हमिंग बर्ड की सामान्य गति से उड़ते समय इर्द-गिर्द तक की पत्तियाँ हवा के तेज झोंके के समय जैसी हिलती रहती हैं और तेजी से उड़ते समय इसके पर एक सेकंड पीछे २०० बार हिलते हैं। प्रणय-क्रीड़ा भी वह उड़ते-उड़ते घड़ी के पेंडुलम की तरह आगे-पीछे हिलते हुए पूरी कर लेती हैं। अंडे देते समय घोंसला पेड़ की छाल और कपास के धागे से ऐसा सुंदर और मजबूत बनाती हैं कि देखने वाले उसे पेड़ की एक गाँठ ही समझ सकते हैं। यह लड़ाकू भी कम नहीं होती। नर हमिंग बर्ड जब आपस में लड़ते हैं, तो उनकी तलवार जैसी चोंच प्रतिद्वंद्वी का सफाया कर देती है। मादा को जब किसी शिकारी पक्षी से खतरा होता है, तो अपनी छुरे जैसी चोंच से निर्भय आक्रमण करती है और बड़ी आकृति वाले बाज, कौए, गिद्ध भी उसकी मार से घबराकर सिर पर पाँव रखकर भागते हैं। लंबी उड़ान में उसकी अपनी शान है। बिना खाए और ठहरे वह लगातार १२ घंटे उड़कर ६०० मील की यात्रा कर सकती है।

शुतुरमुर्ग अब सिर्फ अफ्रीका में ही पाया जाता है। ऊँचाई प्रायः ६ फुट, वजन ३०० पौंड, रफ्तार ४० मील। बीच में वह १५-१५ फुट की ऐसी छलाँगें लगाता है कि घुड़सवारों को भी हार माननी पड़े। इनकी लात से घोड़े की टाँग टूट सकती है। इसे पालतू भी बनाया जाता है। अफ्रीका में इसकी दोस्ती जंगली गधे—जेबरे—के साथ रहती है। दोनों एक-दूसरे को प्यार करते हैं और विपत्ति के समय एक-दूसरे की सहायता भी करते हैं। उन्हें साथ-साथ घूमते और सोते-खाते देखा जा सकता है। ध्रुव प्रदेशों में पाया जाने वाला ६ फुट ऊँचा २०० पौंड भारी पेंग्विन मनुष्य की तरह खड़ा होकर

दो पैरों से चलता है। समुद्र तल में तैरने और शीत सहन करने की उसकी अपनी विशेषता है। तेज ठंड के दिनों में वह ३-४ महीने बिना खाए ही गुजर कर लेता है। बर्फ पर फिसलने का खेल इसे बहुत भाता है। इस जाति के सभी पक्षी प्रायः पति-पत्नी का जोड़ा बनाकर रहते हैं। नर को विशेषतया घर की जिम्मेदारी सँभालनी पड़ती है।

भवन निर्माण और कपड़ा बुनने, टोकरी बनाने जैसे अनेक कला-शिल्पों का सम्मिश्रण करने से हीं घोंसला बनाने की विधा बनी मालूम देती है। बिना किसी कॉलेज में सैद्धांतिक और कारखाने में व्यावहारिक शिक्षा पाए अधिकांश पक्षी जन्मजात रूप से इसे जानते हैं। यों ऋतु प्रभाव से बचने और अंडे, बच्चों की सुरक्षा-व्यवस्था के उपयुक्त सभी पक्षी घोंसले बनाते हैं, पर उनमें से कुछ की प्रवीणता तो देखते ही बनती है।

बया का लटकता हुआ घोंसला हर किसी को आश्चर्य में डाल देता है। वह कितनी सुंदरता और सुघड़ता के साथ बनाया गया है, इसे देखकर उसके निर्माता की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। दक्षिण अफ्रीका की बया ने तो एक कदम और भी आगे बढ़ाया है। वह घोंसले के तिनकों को न केवल मजबूती से सटाती है, वरन् बालों का फंदा लगाकर इस तरह कस देती है कि फिर आँधी-तूफान उसका कुछ भी बिगाड़ न सकें। यों इस तकनीक में वह भेड़ों की ऊन भी काम में लाती हैं, पर अधिकतर प्रयोग वे अधिक लंबे और मजबूत बालों का ही करती हैं। इस दृष्टि से घोड़े और गधे की पूँछ के बाल उसे अधिक उपयुक्त लगते हैं। कभी-कभी तो हाथी और सुअर के बाल भी उसमें कसे होते हैं। इन जानवरों की पूँछ पर बैठकर बाल उखाड़ना भी तो अपने ढंग का एक अलग ही कौशल है। तिनकों के बीच बालों का जो फंदा लगता है उसे देखते हुए स्काउटिंग में तरह-तरह की गाँठें लगाने की जो शिक्षा दी जाती

है, स्वेटर आदि बुनने में लड़कियाँ जो हस्त-लाघव बरतती हैं, वह सभी पीछे पड़ जाता है।

परिपक्व पक्षियों की बात तो दूर, अंडे में रहने वाले अविकसित पक्षी भी जब समर्थता के निकट पहुँचते हैं, तो अपने पुरुषार्थ से अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकलते हैं और उन्मुक्त जगत् के स्वच्छंद वातावरण में प्रवेश करते हैं।

जब अंडा पक जाता है और फूटकर बच्चा निकलने का समय समीप होता है, तो उसमें थरथराहट होती है। छूकर या कान लगाकर यह देखा समझा जा सकता है कि उसके भीतर-खिचड़ी-सी पक रही है। यह सब कुछ क्या है ? यह बच्चे द्वारा अंडा तोड़कर बाहर निकलने के लिए किया जाने वाला संघर्ष है। चूजा अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुरूप पूरा-पूरा प्रयत्न यह करता है कि उसे बंधन से मुक्ति मिले और स्वतंत्र जीवनयापन कर सकने का अवसर उपलब्ध हो। इसके लिए वह अंडे की दीवार से पूरी तरह टकराता है और उस संघर्ष को तब तक जारी रखता है, जब तक कि ऊपर का मजबूत खोल टूटकर बिखर नहीं जाता।

कई बार यह पक्षी मनुष्यों को चुनौती देने खड़े हो जाते हैं, तो उनका होश-हवास गुम कर देते हैं।

कुछ समय पहले बोस्टन अमेरिका के लोगन अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे पर एक जैट विमान से आकाश में उड़ता हुआ पक्षियों का झुंड टकरा गया। फलस्वरूप इंजन में खराबी आने से जहाज टूट गया और ६३ यात्री काल-कवलित हो गए।

पक्षियों में से कितनों में ही बुद्धिमत्ता ही नहीं, उनकी स्नेहिल सद्भावना भी देखते ही बनती है। उनमें वह मृदुल सौजन्य पाया जाता है, जिसे अभी बहुत दिन तक मनुष्य को सीखना होगा।

कबूतर, पंडुक, सारस आदि पक्षी पतिव्रत और पत्नीव्रत पालन करते हैं। वे एक बार प्रेम संबंध स्थापित कर लेने के बाद उसे वफादारी के साथ आजीवन निबाहते हैं।

टिटहरी समुद्र के निर्जन तटों पर अंडे देती हैं। वे मिल-जुलकर अंडे सेती हैं। अपने-बिराने का भेदभाव किए बिना सेती हैं। कोई मादा चारे की तलाश में उड़ जाए, तो कोई दूसरी उसका स्थान ग्रहण कर लेगी। इसी प्रकार मिल-जुलकर अंडे-बच्चों की साज-सँभाल में उन्हें बहुत सुविधा रहती है।

घोंसला बनाने, अंडे सेने से लेकर बच्चों के पालन-पोषण तक का सारा काम पेंग्विन नर-मादा मिल-जुलकर पूरा करते हैं। प्रणय की परिणति दांपत्य सहयोग और शिशु पालन में भागीदार रहने तक के उत्तरदायित्व को नर भली प्रकार समझता है और उसे भली प्रकार निबाहता भी है। बच्चे पानी में तैरने से डरते हैं—इस भय से छुटकारा दिलाने के लिए पेंग्विन उन्हें बलपूर्वक पानी में धकेलती है और तैरने की कला सिखाती है। प्राय: दो-तीन महीने में बच्चे तैरने की ट्रेनिंग पूरी कर पाते हैं।

गरुड़-शावक भारी होता है, इसलिए उसे घोंसले से नीचे उतरने और उड़ने का साहस करने में डर लगता है। माता उसे खतरे का सामना करने की शिक्षा देती है और धकेलकर घोंसले से नीचे गिरा देती है। साथ ही यह ध्यान भी रखती है कि वह कहीं विपत्ति में न फँस जाए। इसलिए नीचे गिरकर जमीन से टकराने से पूर्व ही वह उसे अपनी पीठ पर ले लेती है और उड़कर उसे फिर घोंसले में ले आती है। यह शिक्षण क्रम तब तक चलता ही रहता है, जब तक बच्चा स्वावलंबी होकर स्वतंत्र रूप से उड़ना नहीं सीख जाता। शिकार पकड़ने के लिए मादा को ही शिक्षा देनी पड़ती है। घायल शिकार को वह बच्चों से कुछ दूर छोड़ देती है और फिर अलग बैठकर बच्चों को आखेट-कौशल विकसित करने का अवसर देती है।

कर्तव्य, उत्तरदायित्व, सहयोग और सद्भाव की दृष्टि से भी पक्षियों की दुनिया मनुष्य से पीछे नहीं है, उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार ऐसी समर्थता तो उपलब्ध ही है, जिसके लिए मनुष्य उनसे ईर्ष्या ही करता है।

सर्प भी एक शिक्षक

सर्प के संबंध में किंवदंतियाँ जितनी अधिक प्रचलित हैं, उनसे भी अधिक वे तथ्य हैं, जिन्हें अप्रचलित और अविदित ही कहना चाहिए। साधारणतया सर्प को मृत्युदूत के रूप में चित्रित किया जाता है। ईसाई और मुस्लिम धर्म में ईश्वर के प्रतिद्वंद्वी शैतान का सर्प रूप में वर्णन हुआ है। हिंदू धर्म में हर प्राणी और हर वस्तु में भगवान् का दर्शन करने के दार्शनिक आदर्श के अनुरूप सर्प का स्वरूप भी श्रेष्ठता के साथ संबद्ध किया गया है, किंतु साथ ही उसकी गरिमा को उच्चस्तरीय स्थान दिया गया है।

शेषनाग के फन पर यह धरती टिकी हुई है। विष्णु भगवान् की शैया सर्प पर है, शंकर भगवान् ने सर्प के अलंकार धारण किए हैं। समुद्र मंथन में सर्प की रस्सी का प्रयोग हुआ है, जैसे पौराणिक उपाख्यानों में उसकी महिमा का ही वर्णन है। जहाँ अशुभ वर्णन है, वहाँ भी उसे भगवान् के समतुल्य ही कूता गया है। कालिया नाग का दर्प दमन करने में श्रीकृष्ण को स्वयं जुटना पड़ा, भागवत के इस उपाख्यान में ईसाई धर्म के सर्प शैतान जैसा ही वर्णन है। राजा परीक्षित को सर्प द्वारा काटा जाना इसके पश्चात् कलियुग का आगमन—जन्मेजय द्वारा नागयज्ञ करके विकृति के निराकरण का प्रयास जैसी आख्यायिकाएँ भी सर्प की ध्वंसात्मक शक्ति पर प्रकाश डालती हैं। योग साधना में कुंडलिनी जागरण विद्या की सर्प-सर्पिणी संयोग के रूप में चर्चा की जाती है। इस प्रकार के वर्णन यह बताते हैं कि सर्प की अपनी कुछ भली-बुरी विशेषताएँ उच्च स्तर की हैं और ऐसी हैं जिन पर गंभीरतापूर्वक चिंतन करके जीवनोपयोगी तथ्य हस्तगत किए जाने चाहिए।

ईसाई धर्म की पौराणिक गाथा है कि शैतान ने साँप बनकर हौवा को बहकाया कि वह ईश्वरी आदेश की अवज्ञा करे। इस पर अल्लाह ने शैतान रूपी साँप को शाप दिया कि 'तेरी और हौवा की संतान में सदा बैर रहेगा।' सो साँप और मनुष्य का बैर तो प्रख्यात है; पर बात यहीं समाप्त नहीं हुई। उस शैतान सर्प ने अपने वंशजों से भी बैर ही बना रखा है।

सर्पों के बारे में अनेकानेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। ह्यूप सर्प के बारे में कहा जाता है कि उसकी फुसकार से पेड़ जल जाता है। मिल्क स्नेक के बारे में कहा जाता है कि वह दुधारू जानवरों के थनों से लिपटकर दूध पी जाता है। अमेरिका के किसान ऐसा मानते थे कि घिर जाने पर सर्प अपने आपको काटकर आत्महत्या कर लेता है। एशिया और अफ्रीका के अनेकों देशों में किसी न किसी रूप में सर्प पूजा प्रचलित है। उसे कहीं देवताओं का, कहीं दैत्यों का प्रतिनिधि मानकर पूजा-पत्री द्वारा संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। भारत में मान्यता है कि कृपण व्यक्ति अपनी भूमि में छिपी संपदा की रक्षा के लिए सर्प बनते हैं और उसका उपयोग किसी को नहीं करने देते। किसी सर्प को मार देने पर उसके साथी मारने वाले से बदला लेते हैं और मौका पाते ही काट लेते हैं, ऐसा कहा जाता है।

साँप मनुष्यों का ही शत्रु नहीं, अपितु अपने जाति बंधुओं और वंशजों का भी शत्रु है। वह मात्र मनुष्यों के ही प्राण हरण नहीं करता, मात्र चिड़ियों, चूहों पर ही आक्रमण करके संतुष्ट नहीं होता वरन् वही व्यवहार उनके साथ भी करता है, जो उसके साथी-सहचर ही नहीं, वंशज होने का भी दावा करते हैं। क्रोधी दुष्ट को अपने-पराए का ज्ञान रह भी कैसे सकता है ? सच तो यह है कि साँप ही साँप का सबसे बड़ा शत्रु है। जाति विनाश में उसकी भूमिका अन्य सब प्राणियों से आगे है।

ब्लैक केसर नाग का प्रिय भोजन अपने ही स्वजातीय हैं। न मिलने पर वह मिलते-जुलते सगोत्री गार्टर सर्पों से भी काम चला

लेता है। स्नेक स्टार्स का भी यही हाल है। वे दूसरे जीवों को तभी खाते हैं, जब अपनी जाति वालों की उपलब्धि सर्वथा असंभव हो जाए।

सर्पिणी प्रजनन के बाद क्षुधातुर होती है। अंडे देते समय उसमें जो क्षणिक मातृत्व उदय होता है, वह ज्यादा समय ठहरता नहीं। जैसे ही बच्चे निकलते हैं वैसे ही उसके मुँह में पानी भर आता है। वात्सल्य और क्षुधा-निवृत्ति में से उसे दूसरे का चयन करना भला लगता है और जो भी सँपोला उसकी नजर में आ जाए उसी को निगल जाती है। जो इधर-उधर खिसक जाएँ, वे ही भाग्यशाली जीवित बचते हैं।

क्रोधी, दुष्ट और क्रूर प्रकृति बाहर वालों को ही हानि पहुँचाते हों सो बात नहीं, उनकी प्रतिक्रिया स्वजनों, कुटुंबियों, आत्मीयों के लिए भी कम घातक नहीं होती। मोटे तौर से यह समझा जाता है कि दुष्ट मनुष्य बाहर के लोगों पर आक्रमण करके उनका अहित करके जो कमाते हैं, उससे अपने परिवार को लाभ पहुँचाते हैं, पर वास्तविकता इससे भिन्न है। दुष्टता की कमाई, स्वजनों को तत्काल कुछ विलास सामग्री भले ही जुटा दे, पर अंततः उनमें भी इतने दुर्गुण, मनोविकार भर देती है कि वे बिना परिश्रम प्राप्त हुए वैभव से मिलने वाले क्षणिक सुख का मूल्य भविष्य में अत्यंत दुःखद परिणाम भोगते हुए चुकाते हैं। समय पड़ने पर वे अपने आश्रितों और आत्मीयों के लिए भी विषधर जैसा दंशन करने में नहीं चूकते। तनिक-तनिक से कारणों अथवा संदेहों की आड़ में लोग अपने स्त्री-बच्चों तक की हत्या कर देते हैं। दूसरों के साथ प्रेमालाप को सहन न कर सकने की ईर्ष्या के आवेश में कितने ही नर पिशाच अपनी पत्नी की समस्त सेवा-सहायता को भुलाकर उसके रक्त-पिपासु बन जाते हैं। ऐसे समाचार आए दिन पढ़ने को मिलते रहते हैं। तथाकथित देवताओं से अमुक सुख-सुविधा का वरदान मिलने के प्रलोभन में निरीह पशु-पक्षियों का ही नहीं, अपने या पड़ौसी के बच्चों की बलि चढ़ाने वाले दुरात्माओं की संख्या भी कम नहीं है।

दुष्टता तो एक अग्नि है, जो दूरवर्ती और निकटवर्ती का भेदभाव किए बिना सर्वतोमुखी अहित ही करती है। सर्प में पायी जाने वाली यह दुष्टता उसे मृत्युदूत, घृणित, शैतान आदि के रूप में सर्वत्र निंदनीय ठहराती है। उसकी आतंकवादी प्रकृति से लोग डरते तो हैं, पर साथ ही उसका मुँह कुचलने में भी नहीं चूकते।

भारत में पाए जाने वाले विषधरों में कोबरा, किरात, कोरल, वाइपर, कोडर, करायत, वफई राजनाग, रसेल प्रमुख हैं। इनका पूरा दंश लग जाए तो १० मिनट से लेकर २ घंटे की अवधि में मनुष्य दम तोड़ देता है। अजगरों की लंबाई ३५ फीट तक पाई जाती है, उनका वजन तीन मन तक देखा गया है। हिरन, सुअर, सियार, जंगली भैंसा जैसे जानवरों को वह अपनी कुंडली में ऐसे जकड़ता है कि उनकी हड्डी-पसली चूर-चूर हो जाती है, इसके बाद वह अपने शिकार को प्रायः समूचा ही निगलता है और पचने तक आराम से पड़ा सुस्ताता रहता है। शेर के साथ मल्लयुद्ध में कभी-कभी अजगर के हाथ ऐसी पकड़ आ जाती है कि शेर का चूरा करके उसे पूरी तरह निगल जाए।

इतनी सामर्थ्य का उपयोग यदि कोई प्राणी रचनात्मक दिशा में कर सके, तो उसकी उपयोगिता बैल या घोड़े से कई गुनी अधिक सिद्ध हो सकती है। पर यदि उसका उपयोग घातक प्रयोजनों के लिए किया जाए, तो इससे अजगर की तरह अशांति ही उत्पन्न की जा सकती है।

संसार में प्रायः २५०० जाति के सर्प पाए जाते हैं। भारत में इनकी ४०० जातियाँ ही देखने में आई हैं। इनमें से ८० प्रकार के ही विषधर होते हैं। हर वर्ष भारत में प्रायः डेढ़ लाख मनुष्यों को साँप काटते हैं, पर उनमें से १० प्रतिशत की ही मृत्यु होती है, क्योंकि काटने वाले सभी सर्प अधिक विषैले नहीं होते।

कुछ की दुष्टता से उस वर्ग के अन्य निर्दोषों को भी कलंकित होना पड़ता है। समस्त सर्प विषधर और दुष्ट प्रकृति के न होने पर भी बेचारे अकारण घृणास्पद समझे जाते हैं और लोग

उनका भी जीवन दुर्लभ कर देते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मनुष्य समाज में यह प्रथा प्रचलित है कि हर वर्ग अपने समाज के लोगों को दुष्प्रवृत्तियों से रोकने-बचाने के हर संभव प्रयत्न करे। समझाने-बुझाने से न सुधरे तो उसे बहिष्कृत एवं दंडित करके कड़े कदम भी उठाए। राजसत्ता और समाज संगठन द्वारा ऐसा किया भी जाता है। इसी कारण मानव समाज की बहुत कुछ दुष्टताएँ नियंत्रण में रहती हैं। सर्पों को भी यदि यह सहज बुद्धि होती, तो संभवतः वे भी क्रोधी और दुष्ट सर्पों को बहिष्कृत एवं दंडित करने में न चूकते।

सर्प का विष उसकी पैराटाइड ग्रंथि से निकलता है। उसकी संरचना प्रोटियोलाइटिक, एंजाइम, फास्फेटाइडेज और न्यूरोटानिक्स से होती है।

सर्प विष के बारे में यह कथन सत्य है कि काटे हुए स्थान का रक्त मुँह से चूसा जा सकता है और उससे रोगी को विष मुक्त किया जा सकता है, पर यह बात तभी सही होगी, जब चूसने वाले के मुँह में किसी प्रकार का छोटा-बड़ा जख्म न हो। सपेरे साँप को मारकर खा जाते हैं, यह भी सत्य है। साँप का विष बिना किसी हानि के पचाया जा सकता है। यह घातक तभी होता है जब रक्त में सीधा जा मिलता है।

सर्प विष रक्त में मिलकर ही 'हिमोलिसस' नामक पदार्थ उत्पन्न करता है। रक्त कोशिकाएँ फट जाती हैं, आमाशय और गुर्दे में रक्त जमा होना प्रारंभ हो जाता है। त्वचा ठंडी पड़ जाती है। हाथ, पैर, जीभ आदि सुन्न होते-होते मस्तिष्क अपना काम करना बंद कर देता है और बेहोशी के बाद दिल धड़कना बंद हो जाता है।

हांगकांग में सर्प का पित्ताशय बड़े चाव से खाया जाता है। बर्मा में एक बार अन्वेषी चिडविन का दल जंगलों में फँस गया, तो उसने अजगर खाकर अपना काम कई सप्ताह तक चलाया। अमेरिका में गार्टर साँप का मांस डिब्बों में बंद बिकता है।

संसार में फैली हुई दुष्प्रवृत्तियाँ अपने लिए सर्प विष की तरह तभी घातक बनती हैं, जब वे अपने रक्त में—जीवन-क्रम में मिलने घुलने लगें। यदि उन्हें आत्मसात् न किया जाए, तो विकृतियाँ कितनी ही भयंकर क्यों न हों किसी का कुछ अहित नहीं कर सकतीं। सर्प विष को सीधा रक्त में न मिलने देने की सावधानी रखने वाले कालकूट के साथ अठखेलियाँ करते रहते हैं और उसके दुष्प्रभाव से सहज ही बचे रहते हैं।

इतना ही नहीं, बुद्धिमान् लोग तो सर्प विष जैसे भयंकर पदार्थ से भी लाभ उठा लेते हैं। उससे संपदा उपार्जन करते हैं और सदुपयोग करके उस विष को अमृत में बदलते हैं। सर्प विष से भयानक रोगों का शमन करने वाली औषधियाँ बनती हैं और उसका संग्रह करने वाले संपन्न एवं यशस्वी बनते हैं।

भारत में हाफकिन इंस्टीट्यूट बंबई, सर्प शोध-कार्य में प्रवृत्त है, साथ ही सर्प विष संग्रह करके उन्हें विदेशों में चिकित्सा अनुसंधानों के लिए भेजता है और दुर्लभ विदेशी मुद्रा कमाता है। सर्प विष सोने की अपेक्षा पंद्रह गुने अधिक मूल्य का होता है। पाले हुए सर्पों में से नाग एक बार में २०० मिलीग्राम, कोडर १५० मिली ग्राम, करायत २६ मिली ग्राम और वफई ६ मिली ग्राम विष देता है।

दुष्टता को परिष्कृत करके उसे सदुद्देश्य के लिए प्रयुक्त कर सकना एक महत्त्वपूर्ण कला है। सँपेरे विषैले साँप पकड़ने का धंधा करते हैं, इससे वे अनेकों को भयमुक्त करते हैं, साथ ही बीन बजाकर उन्हें लहराने का खेल दिखाकर दर्शकों का मनोरंजन एवं अपने लिए आजीविका उपार्जन करते हैं। शेषशैयाशायी विष्णु और सर्पालंकारधारी शंकर के चित्र इसी प्रयोग की सफलता का संकेत करते हैं। वाल्मीकि, अंगुलिमाल, अंबपाली, अजामिल, बिल्वमंगल, अशोक आदि के पूर्वपक्षी दुष्टजीवन उत्तर भाग में कितने श्रेष्ठ बन सके, इस तथ्य पर दृष्टिपात किया जाए, तो यह स्वीकार किया जाएगा कि उच्चस्तरीय सद्भावनाएँ बुरों को भी भला बना सकती

हैं। इस तथ्य को स्मृति-पटल पर बनाए रखने के लिए हिंदू धर्म में एकाध त्यौहार सर्प पूजा का भी है।

श्रावण शुक्ला पंचमी को हर साल नागपंचमी का त्यौहार आता है। उस दिन जगह-जगह सँपेरे अपने साँप-पिटारे लेकर पहुँचते हैं, सर्प का दर्शन कराते हैं, धर्म-भीरु लोग उन्हें दूध पिलाते हैं और सँपेरों को दान-दक्षिणा देते हैं।

महाराष्ट्र के साँगली नगर में कोई ७० मील दूर शिराला गाँव में वसंत पंचमी पर होने वाली सर्प पूजा अद्भुत है। वहाँ दूर गाँवों के लोग इकट्ठे होते हैं और सर्प नृत्य का आनंद मनाते हैं। सँपेरे तथा दूसरे लोग अपने पकड़े सर्पों को लेकर वहाँ पहुँचते हैं। गाते-बजाते हैं। सर्प, फन फैलाकर उनके साथ-साथ नृत्य करते हैं। कहते हैं—बाबा गोरखनाथ ने यह आशीर्वाद दिया था कि इन ३२ गाँवों में सर्प किसी को नहीं काटेंगे और न इन गाँवों के लोग उन्हें मारेंगे। आश्चर्य है कि यह लोकोक्ति सही भी होती चली जाती है। पूना से इस्लामपुर तक पक्की सड़क जाती है। इसके बाद शिराला तक १० मील पैदल चलना पड़ता है।

इस प्रकार के उदाहरण बताते हैं कि एक पक्षीय सद्भावना भी दूसरे पक्ष की दुष्टता को ऋजु एवं मृदुल बनाने में बहुत हद तक सफल हो सकती है।

❑ ❑

पतन क्यों ? उत्थान कैसे ?

■

जीवित वे रहते हैं जो सतर्क रहते हैं और सामयिक परिस्थितियों से जूझने का साहस करते हैं, जिन्होंने प्रमाद बरता और सरलता का जीवन जीने की राह ढूँढ़ी; उन्हें यह आरामतलबी बहुत महँगी पड़ी है। प्रकृति की विघातक शक्तियाँ इसी फेर में रहती हैं कि कब, किसे बेखबर और कमजोर पाएँ और किसे, कब-कैसे धर दबोचें ? यह संसार कुछ ऐसा ही विचित्र है, यहाँ उपयोगी का चुनाव वाला क्रम काम करता रहता है और जो संघर्ष से बचता-डरता पाया जाता है, उसी पर विपत्ति का कुल्हाड़ा चलने लगता है। सरलता और सुविधा के फेर में जिन्होंने अपनी सतर्कता संघर्षशीलता गँवा दी, उन्हें देर-सबेर में अपने अस्तित्व से भी हाथ धोना पड़ता है।

रूस की विज्ञान एकेडेमी के पुराजीव संग्रहालय में लाखों वर्ष पुराने जीव-कंकालों का संग्रह किया गया है। इनमें सबसे बड़ा कंकाल सारोलोफ वर्ग की एक विशालकाय 'डायनासौर' का है, जो २३ फुट ऊँचा है। यह मंगोलिया में पाया गया था। ऐसी प्रागैतिहासिक दुर्लभ वस्तुएँ उसी क्षेत्र में मिली हैं। मंगोलिया में समुद्र की सतह से कोई ३२०० फुट ऊँचा एक पठार है। समुद्री हलचलों से वह स्थान पिछले १० करोड़ वर्षों से सुरक्षित रहा है। वहाँ का गोबी रेगिस्तान चिर अतीत की भौगोलिक गाथाओं और जीव-इतिहास की महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ अपनी छाती से छिपाए बैठा है। अन्वेषकों का बहुत ध्यान इस क्षेत्र पर है। उपरोक्त कंकाल वहीं से मिला है।

किसी समय मनुष्य भी अब की अपेक्षा काफी लंबे-तगड़े थे, पर उनमें बुद्धि की कमी रही, प्रकृति के अवरोधों से अपना बचाव करने की बात न सोच सके। फलतः उनकी विशेषताएँ घटती चली गईं। लुप्त होने से जो बच सके, तो उनकी पीढ़ियाँ कद और वजन

की दृष्टि से हल्की होती चली गई और वही स्थिति अब तक चली आ रही है।

सन् १९३९ में जावा, इंडोनेशिया में सोली नदी के किनारे खुदाई करते हुए पुरातत्त्ववेत्ता वान क्योनिंगबाल्ड को एक ऐसा मनुष्य का जबड़ा मिला था, जो बताता था कि प्राचीनकाल के मनुष्य अब की अपेक्षा काफी लंबे-चौड़े थे। उन्हें दो वर्ष बाद सन् १९४१ में उससे भी बड़ा जबड़ा प्राप्त हुआ, जिससे पता चलता है कि भूतकाल के दैत्याकार मनुष्यों की जैसी किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, वे निराधार नहीं हैं।

दैत्याकार मानवों के शोध-प्रसंगों में चीन के विभिन्न स्थानों पर कुल मिलाकर मानव प्राणी के ४७ दाँत ऐसे मिले हैं, जो अब के मनुष्यों की तुलना में छह गुने बड़े हैं। दैत्याकार अस्थि-पिंजरों के टुकड़े प्रायः चार लाख वर्ष पुराने माने गए हैं। इन अस्थियों से एक और रहस्योद्घाटन होता है कि पुराने समय में जबड़े बड़े थे और मस्तिष्क का आकार जैसे-जैसे बढ़ा, वैसे-वैसे जबड़ा छोटा होता चला गया। पंख युक्त होते हुए भी उड़ सकने की क्षमता से रहित पक्षियों में मोआ, कही, कीवी, कैसोवरी, एमू, शुतुरमुर्ग और पैंग्विन मुख्य हैं। यों पालतू मुर्गे और मोर भी धीरे-धीरे अपने उड़ने की क्षमता खोते चले जा रहे हैं। इस प्रकार के और भी कुछ पक्षी हैं, जिनका स्वाभाविक वजन बढ़ता जा रहा है और वे उड़ने की दृष्टि से अपंग होते चले जा रहे हैं।

न्यूयार्क के म्युजियम ऑफ नेचुरल हिस्ट्री में पिछले दिनों न्यूजीलैंड में पाए जाने वाले मोआ पक्षी का अस्थि-पिंजर रखा है, इसकी ऊँचाई १३ फुट थी और वजन ५०० पौंड। यह पक्षी अपने उड़ने की क्षमता खो चुका था।

अमेरिकी शुतुरमुर्ग 'कही' भी भूमिचारी था, नर के साथ ८-१० मादाएँ रहती थीं। मादाएँ वन-विहार करती थीं और नर सबके अंडे-बच्चे सँभालने घर पर रहता था। उसे चारे-दाने के लिए तभी बाहर

जाने का अवसर मिलता था, जब मादाएँ उसे वैसी सुविधा और आज्ञा प्रदान कर दें।

न्यू गायना में पाया जाने वाला कैसेवरी धरती पर सुविधाजनक रीति से आहार पाकर संतुष्ट हो गया और उसने उड़ने का परिश्रम करने से जी चुराना शुरू कर दिया। फलस्वरूप उसकी उड़नशक्ति विदा हो गई और धरती पर रहने वाली लोमड़ियाँ उसे चट कर गईं। यही हाल आस्ट्रेलियाई एमू का हुआ। दौड़ने की क्षमता गँवा बैठने के बाद उसे अक्ल आई। तब उसने तेज दौड़ने का अभ्यास करके किसी प्रकार जान बचाने की तरकीब लड़ाई, इससे भी काम नहीं चला, जो एक बार हारा सो हारा। धूर्त शिकारियों ने उनका अस्तित्व निर्दयतापूर्वक मिटा ही डाला। गोल गेंद जैसे कीवी अब कुछ ही दिन में धरती पर से उठ जाएँगे। आलसी नर घर पर पड़ा-पड़ा अंडे-बच्चे सेता रहता है। बेचारी मादा को ही आहार जुटाने के लिए भी दौड़-धूप करनी पड़ती है। ८० दिनों में जब तक पिछले बच्चे उड़ने योग्य हो पाते हैं, तब तक मादा पर नए बच्चे देने का भार आ पड़ता है। इस प्रकार वह प्रजनन का ही कष्ट नहीं उठाती, परिवार का पेट पालने में भी मरती-खपती है। नर को आलस्य मारे डाल रहा है और मादा की जान अति भार वहन से निकली जा रही है। इस असंतुलन का परिणाम सामने है; यह सुंदर पक्षी, पंख तो पहले ही गँवा चुका था, अब प्रकृति के निर्दय रंगमंच पर अपनी सत्ता भी समाप्त करने जा रहा है।

प्रकृति के साथ संघर्ष करने में जो प्राणी साहस और सतर्कता के साथ संलग्न है, उन्हें अतिरिक्त परिश्रम तो करना पड़ता है, पर अपने अस्तित्व को भली प्रकार अक्षुण्ण रखे हुए हैं।

कुछ बतखें जल तट पर नहीं, पेड़ों पर अंडे देती हैं और जब बच्चे कुछ समर्थ हो जाते हैं, तो उन्हें पीठ पर लादकर पेड़ से नीचे लाती हैं। हिप्पो, समुद्री ऊदबिलाव भी अपने बच्चों को पीठ पर लादते हैं। मादा बिच्छू की पीठ पर तो तीस की संख्या तक

बच्चे लदे देखे गए हैं। चलते समय जो गिर पड़े उन्हें उठाकर फिर पीठ पर लादने का काम भी मादा को ही निपटाना पड़ता है। चमगादड़ के बच्चे अपनी माँ की गर्दन पकड़कर लटके रहते हैं। कंगारू के बच्चे माता के पेट से सटी हुई थैली में बहुत दिनों तक गुजर-बसर करते हैं।

गिनी चकमो और हेमड्रेज वानर मिश्र और एवीसीनिया में धार्मिक श्रद्धा के पात्र समझे जाते हैं। दक्षिणी एवीसीनिया में पाए जाने वाले गेलेडा जब समूह-बद्ध युद्ध करते हैं, तब उनका रण-कौशल मनुष्य युद्ध-विद्या विशारदों के लिए भी देखने-समझने योग्य होता है। लगता है कि चक्रव्यूह विद्या के अनेक पक्ष अभिमन्यु की तरह गर्भ में से ही सीखकर आए हों। उनका रौद्र रूप देखकर आक्रमणकारी चीता भी दुम दबाकर भागता है।

कृमि-कीटकों की प्रायः ५० लाख जातियाँ इस पृथ्वी पर होने का अनुमान है। इनमें से २० लाख की खोज-खबर मनुष्य द्वारा अब तक ली जा चुकी है। संसार में आँखों से दीख पड़ने वाले जितने जीवधारी बसते हैं, उनमें से ८५ प्रतिशत यह कीट-पतंगे ही हैं।

आत्मरक्षा, ऋतु प्रभाव और आहार उपलब्धि एवं वंश-वृद्धि की समस्याओं के सुलझाने के लिए उन्हें अपनी आकृति-प्रकृति में सृष्टि के आदि से लेकर समयानुसार अनेक परिवर्तन करने पड़े हैं। परिस्थितियाँ उनकी इच्छानुसार नहीं बन सकती थीं, तो अपने आपको उन्होंने बदलना-सँभालना आरंभ किया। फलस्वरूप अभावग्रस्तता, असुविधा और विघातक परिस्थितियों से अपने अस्तित्व को बचाए रहना उनके लिए संभव हो सका।

हवा और पानी के प्रवाह में वे अक्सर कहीं से कहीं पहुँच जाते हैं। परिव्रजन आकांक्षा से प्रेरित होकर भी रेंगते, फुदकते, उड़ते दूर-दूर की ऐसी यात्राएँ कर लेते हैं, जहाँ अनभ्यस्त आहार और अजनबी वातावरण में ही निर्वाह करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता। तब प्रकृति उनके शरीरों में तेजी से

परिवर्तन करती है और इस लायक बना देती है कि वे नए वातावरण में गुजर कर सकें।

कछुआ प्रकृति ने जलचर के रूप में बनाया है। वह जलाशयों के समीपवर्ती तटों पर भी रह सकता है; पर जब उसे परिस्थिति वश कठोर पर्वतों पर रहना पड़ा, तो वह पाषाण कच्छप के रूप में बदल गया और चट्टानों के बीच ही निर्वाह करने लगा। बिलों में रहने वाला सर्प आहार की सुविधा के लिए जलाशयों की मछलियाँ आसानी से प्राप्त करने लगा, तो उसने जलचर बनना अंगीकार कर लिया और जल सर्पों की जातियाँ अस्तित्व में आईं।

आक्रमणकारियों से अपना बचाव करने और शिकार पकड़ने के दाव-पेंच सफल बनाने के लिए इन कीड़ों ने पेड़-पौधों की पत्तियों में छिपे रहने योग्य काय-कलेवर का रंग-रूप आवश्यक समझा। तदनुसार अधिकांश कीड़े घास-पात की हरियाली में छिप सकने जैसे रंग-रूप के बन गए। फूलों पर उड़ने वाली तितलियों का रंग-रूप प्रायः वैसा ही रंग-बिरंगा हो गया। जिराफ की चमड़ी के दाग-धब्बे ऐसे होते हैं, जिससे वह दूर से देखने वालों को झाड़ी मात्र प्रतीत हो।

सींग, विषदंश दाँत, पंजे प्रायः इसी आधार पर बने हैं कि वे अपना आहार सरलतापूर्वक पकड़ने और खाने में सफल रहें। पेट के पाचन तंत्रों में इसी आधार पर विकास-परिवर्तन होता रहा है।

दुर्बलकाय सीप और घोंघे, शंख, शंबुक, कौड़ी जाति के कीड़ों ने आत्मरक्षा का एक उपयोगी उपाय सोचा है—अपने चारों ओर एक मजबूत कवच का निर्माण करना। वे अपने शरीर में से ही एक अजीब किस्म का रस निकालते हैं और उनकी परतें शरीर के चारों ओर चढ़ाते चले जाते हैं। समयानुसार यह परतें इतनी मजबूत हो जाती हैं कि शिकारी जल-जीव इनका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर पाते और सुरक्षित शांतिपूर्ण जीवनयापन करते हैं। इन कीटकों की कुशलता उन पर चढ़े कवचों की आकर्षक सुंदरता के रूप में दर्शकों का मन मुग्ध करती है।

जो हो, इस विश्व में सजगता, समर्थता और सक्रियता का अपना महत्त्व है। इन्हें गँवाकर जो आलसी बनते हैं, असावधान रहते हैं, उनकी सुविधा को प्रकृति सहन नहीं कर सकती और एक दिन झल्लाकर छीन ही लेती है। उसे तो पुरुषार्थ और संघर्ष ही भाता है।

आरामतलबी व आलसीपन प्रकृति के विरुद्ध

सुगम, सुविधाजनक, आरामतलबी की जिंदगी आज के आदमी का लक्ष्य बनी हुई है। वह अधिक से अधिक शौक-मौज से भरे—दिन काटना चाहता है और विलासिता में निमग्न रहने के साधन ढूँढ़ता है। तथाकथित बड़े लोगों की आजकल यही प्रवृत्ति है। वे अधिक धन और सुविधा-सामग्री इसी प्रयोजन के लिए जमा करते हैं।

छोटा कहा जाने वाला वर्ग धन की कमी की वजह से नहीं, उत्साह और उमंगों की दरिद्रता के कारण छोटा है और दिन-दिन और भी अधिक गिरता जाता है। उसे आलस्य और प्रमाद खाए जाता है। जब भूख विवश करती है, तो कुछ करने को खड़ा होता है और उतने ही हाथ-पैर हिलाता है, जितने के बिना कि पेट का गड्ढा नहीं भरता। इसके बाद उसे भी आलस्य-प्रमाद, व्यसन आदि झगड़े, गप-शप और आवारागर्दी की सूझती है। अपने आपके संबंध में बेखबर यह लोग कितना गंदा, गलीज जीवन-क्रम अपनाए रहते हैं, यह देखकर दया आती है। आवारागर्दी के समय को यदि वे शरीर—वस्त्र—मकान और जो कुछ उनके पास है, उसे स्वच्छ बनाने में ही लगा लिया करें, तो इतने मलीन तो न दीखें। पिछड़ेपन में निर्धनता और अशिक्षा भी कारण हो सकती है, पर सबसे बड़ा कारण है मानसिक छोटापन। उसी व्यापक छूत की बीमारी को हम इस देश के पिछड़ेपन का मूलभूत कारण भी कह सकते हैं।

आरामतलबी या आलसीपन यह दोनों ही सजीव चेतन प्राणी की अंतरात्मा की मूल प्रकृति के विपरीत हैं। यदि अंतःकरण को दुर्बुद्धि ने मूर्च्छित न कर दिया हो, तो उससे सदा साहसिकता का

परिचय देने की—शौर्य प्रवृत्ति उमँगती रहती दिखाई देगी। बहादुरी और वीरता के प्रतिफल ही सच्चा आनंद और संतोष दे सकते हैं, इसे छोटे पक्षी भी जानते हैं।

चिड़ियों में बहुत-सी ऐसी होती हैं, जो बदलती हुई ऋतुओं का आनंद लेने के लिए यात्राएँ करती हैं। इसमें उन्हें काफी श्रम करना पड़ता है और भारी जोखिम उठानी पड़ती है तथा मनोयोग का प्रयोग करना पड़ता है, पर वे बेकार झंझट में क्यों पड़ें—चैन के दिन क्यों न गुजारें—की भाषा में नहीं सोचतीं, वरन् इस प्रकार साहसिकता का परिचय देने में आंतरिक प्रसन्नता एवं संतोष का अनुभव करती हैं। इसके लिए उनमें भीतर से ऐसी उमंग उठती है, जिसे पूरा किए बिना रहा ही नहीं जाता। पेट कहीं भी भरा जा सकता है और दिन कहीं भी काटे जा सकते हैं, यह मरी हुई जिंदगी है, जिसे मनुष्य भले ही पसंद करे, पर पशु-पक्षियों से लेकर कीट-पतंगों तक कोई भी उसे पसंद नहीं करता। कुछ चिड़ियाँ तो ऐसी हैं, जो अपनी साहसिक यात्राओं द्वारा संभवतः मनुष्य को भी उत्साही, परिश्रमी, साहसी और महत्त्वाकांक्षी होने की प्रेरणा देती हैं।

सितंबर के प्रथम सप्ताह में भारत में ऐसे अनेक रंग-बिरंगे पक्षी दिखाई पड़ते हैं, जो गर्मी और बरसात में नहीं थे। यह पक्षी जर्मनी, साइबेरिया, चीन, तिब्बत आदि सुदूर देशों से हजारों मील की लंबी यात्रा करके आते हैं। तिधारी, चैती, हंसक, पैतरा, सुरखाव, लालसर आदि प्रमुख हैं। इनमें पैर के अँगूठे के बराबर 'स्वेटपेनिकल' जैसे छोटे और २५ पौंड भारी आदमकद सारस जैसे बड़े पक्षी भी होते हैं। यह लंबी यात्रा सप्ताहों तथा महीनों की होती है। आहार की सुविधा, ऋतु प्रभाव से बचाव और सैर-सपाटे का आनंद यह इस लंबी यात्रा का उद्देश्य होता है। आश्चर्य यह है कि यह अपनी यात्रा अवधि पूरी करके नियत समय पर ही अपने स्थानों को लौट जाते हैं और अपने पुराने पेड़ों और पुराने घोंसलों में ही जाकर फिर बस जाते हैं। भारत में भी वे मारे-मारे नहीं

फिरते वरन् यहाँ भी वे अपने नियत स्थान बनाते हैं और जब तक जीवित रहते हैं, प्रायः इन दोनों क्षेत्रों में अपने नियत स्थानों पर ही निवास करते हैं।

इन पक्षियों की लंबी यात्राएँ, ऊँची उड़ानें आश्चर्यजनक हैं। बागटेल २००० मील की लंबी यात्रा करके बंबई के निकट एक मैदान में उतरते हैं और फिर विभिन्न स्थानों के लिए बिखर जाते हैं। गोल्डन फ्लावर पक्षी अमेरिका से चलते हैं। पतझड़ में भारत में विश्राम करते हैं, फिर थकान मिटाकर अटलांटिक और दक्षिण महासागर पार करते हुए दक्षिण अमेरिका जा पहुँचते हैं। आते समय वे समुद्र के ऊपर से उड़ते हैं और जाते समय जमीन के रास्ते लौटते हैं। अलास्का में उनके घोंसले होते हैं और वहीं अंडे देते हैं। हर वर्ष प्रायः वह दो-ढाई हजार मील की यात्रा करते हैं। पृथ्वी की परिक्रमा तीन हजार मील की है। इस प्रकार वे लगभग पृथ्वी की एक परिक्रमा हर वर्ष पूरी करते हैं। आर्कटिक टिटहरी इन सब घुमक्कड़ पक्षियों से आगे है। उत्तरी ध्रुव के समीप उसका घोंसला होता है। पतझड़ में वह दक्षिण ध्रुव जा पहुँचती है। वसंत में फिर वापस उत्तरी ध्रुव लौट आती है। जर्मनी के बगुले ४ महीने में करीब ४००० मील का सफर पूरा करते हैं। रूसी बतखें भी ५००० मील की लंबी यात्राएँ करती हैं। यह पक्षी औसतन २०० मील की यात्रा हर रोज करते हैं। टर्नस्टान इन सबसे अधिक उड़ती है। उसकी दैनिक उड़ान ५०० मील के करीब तक की होती है। साथ ही उसका १७ हजार फीट की ऊँचाई पर उड़ना और भी अधिक आश्चर्यजनक है। हाँ, समुद्र पार करते समय उड़ने की ऊँचाई तीन हजार फीट से अधिक नहीं होती।

इन्हें इतनी खतरनाक और कष्टसाध्य उड़ानें उड़ने की उमंग क्यों उठती है, क्या उनके लिए यह उड़ान अनिवार्य है ? क्या वे अपने क्षेत्र में गुजारा नहीं कर सकते या वहीं कहीं थोड़ा उड़कर काम नहीं चला सकते ? आखिर ऐसा बड़ा कारण क्या है, जिसके

कारण जान-जोखिम में डालने वाला ऐसा कदम उन्हें उठाना पड़ता है।

पक्षी विज्ञान के विज्ञानियों ने यह पाया है कि बाह्य दृष्टि से उनके सामने कोई ऐसी बड़ी कठिनाई नहीं होती, जिसके कारण उन्हें इतना बड़ा जोखिम उठाने के लिए विवश होना पड़े। आहार की—ऋतु प्रभाव की घट-बढ़ होती रह सकती है, पर दूसरे पक्षी भी तो उन्हीं परिस्थितियों में किसी प्रकार निर्वाह करते हैं। फिर सैलानी चिड़ियों को ही ऐसी विचित्र उमंग क्यों उठती है ? इस प्रश्न का उत्तर उनकी वृक्क ग्रंथियों में पाए जाने वाले विशेष हारमोन रसों से मिलता है। जिस प्रकार कुछ बढ़े हुए हारमोन अपने समय पर काम-वासना के लिए बेचैनी उत्पन्न करते हैं, लगभग वैसी ही बेचैनी इस प्रकार की लंबी उड़ान भरने के लिए इन पक्षियों को विवश करती है। वे अपने भीतर एक अद्‌भुत उमंग अनुभव करते हैं और वह इतनी प्रबल होती है कि उसे पूरा किए बिना उनसे रहा ही नहीं जाता। यह उड़ान हारमोन न केवल प्रेरणा देते हैं; वरन् उसके लिए उनके शरीरों में आवश्यक साधन-सामग्री भी जुटाते हैं। पंखों में अतिरिक्त शक्ति, खुराक का समुचित साधन न जुट सकने की क्षति-पूर्ति करने के लिए बढ़ी हुई चर्बी—साथ उड़ने की प्रवृत्ति, समय का ज्ञान, नियत स्थानों की पहचान, सफर का सही मार्ग जैसी कितनी ही एक से एक अद्‌भुत बातें हैं, जो इस लंबी उड़ान और वापसी के साथ जुड़ी हुई हैं। उन उड़न हारमोनों को पक्षी के शरीर, मन और अंतर्मन में इस प्रकार के समस्त साधन जुटाने पड़ते हैं, जिससे उनकी यात्रा प्रवृत्ति तथा प्रक्रिया को सफलतापूर्वक कार्यान्वित होते रहने का अवसर मिलता रहे।

प्रकृति नहीं चाहती कि कोई प्राणी अपनी प्रतिभा को आलसी और विलासी बनकर नष्ट करे। प्रकृति इन यात्रा प्रेमी पक्षियों को यही प्रेरणा देती है कि वे विभिन्न स्थानों के सुंदर दृश्य देखें और वहाँ के ऋतु प्रभाव एवं आहार-विहार के हर्षोल्लास का अनुभव करें। अपनी क्षमता और योग्यता को परिपुष्ट करें।

मनुष्य में आरामतलबी की प्रवृत्ति इतनी घातक है कि वह कुछ महत्त्वपूर्ण काम कर ही नहीं सकता। अपनी प्रगति के द्वार किसी को रोकने हों, तो उसे काम से जी चुराने की आदत डालनी चाहिए और साहसिकता का त्याग कर विलासी बनने की बात सोचनी चाहिए। ऐसे लोगों को मुँह चिढ़ाते हुए—उनकी भर्त्सना करते हुए ही यह उड़न पक्षी विश्व-निरीक्षण, विश्व भ्रमण करते रहते हैं—ऐसा लगता है।

परिणाम फिर भी प्रतिकूल क्यों !

मनुष्य अपने बुद्धि-बल और पुरुषार्थ के अनुरूप सदा से यह प्रयत्न करता रहा है कि उसे अधिक अच्छी परिस्थितियाँ, सुविधाएँ तथा संपदाएँ प्राप्त होती चलें। इसके लिए उसने प्रकृति के भौतिक स्तर का ही स्पर्श किया है और तदनुरूप थोड़ा-बहुत लाभ पाया भी है।

उसे यह ध्यान नहीं रहा कि प्रकृति का एक अध्यात्म पक्ष भी है। उसमें विकृति आने से दैवी आपत्तियाँ टूटती हैं और किए हुए सारे प्रयत्न देखते-देखते मटियामेट हो जाते हैं। प्रकृति का सूक्ष्म स्तर तब बिगड़ता है, जब मनुष्यकृत चेतनात्मक विक्षोभ से पराप्रकृति का अंतराल विषाक्त हो जाता है।

सतयुग के—रामराज्य के—वर्णन में यह बताया गया है कि उन दिनों प्रकृति अत्यधिक अनुकूल थी, समय पर वर्षा होती थी—वृक्ष-वनस्पतियाँ प्रसन्न होकर फलते थे, मनुष्य दीर्घजीवी थे, दूध-दही की नदियाँ बहती थीं, दैवी प्रकोपों से किसी को कोई कठिनाई नहीं उठानी पड़ती थी। अकाल मृत्यु से लेकर महामारियों तक का कहीं अता-पता भी नहीं मिलता था। यह इसलिए होता था कि मनुष्यों की सद्भावनाएँ और सत्प्रवृत्तियाँ उत्कृष्ट, उच्चस्तर की बनी हुई थीं।

कलियुग में तरह-तरह की दैवी विपत्तियों और विकृतियों की संभावना का पुराणों में जो पूर्व कथन मिलता है, उसका एकमात्र आधार यही है कि जब मनुष्यों का रुझान दुष्कर्मों की ओर होगा

तो उसकी प्रतिक्रिया प्रकृति के सूक्ष्म अंतराल को विषाक्त बनाएगी। फलस्वरूप मनुष्यों को उनका प्रतिफल विपत्तियों के रूप में भुगतना पड़ेगा। संपत्तियाँ एवं सुविधाएँ भले ही बढ़ जाएँ, पर उन्हें शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, अंतर्राष्ट्रीय हर क्षेत्र में घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। इस संकट को बढ़ाने में प्रकृति का प्रकोप भी कम योगदान नहीं देगा। कलियुग के सविस्तार भयावह वर्णन की पौराणिक भविष्यवाणियाँ इसी आधार पर हैं। हम देखते हैं कि वह पूर्व कथन सही होता चला जा रहा है। जिस क्रम से हम दुष्ट और भ्रष्ट बनने पर उतारू हैं, उसी क्रम से प्रकृति के हंटरों की मार दिन-दिन अधिक तीव्र एवं अधिक निर्दय बनती चली जा रही है।

प्रकृति की, मौसम की अनुकूलता, प्रतिकूलता हमारी आर्थिक और शारीरिक परिस्थितियों को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। वर्षा के न्यून अथवा अधिक होने पर, पाला पड़ने, अंधड़ चलने तूफान, भूकंप जैसे उपद्रव खड़े होने से कृषि, पशुपालन तथा अन्यान्य उद्योग-धंधों पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे कौन नहीं जानता। मौसम की असह्य प्रतिकूलता से कितने ही बीमार पड़ते हैं, कितने ही दम तोड़ देते हैं। दुर्भिक्ष, महामारी एवं अप्रत्याशित विपत्तियाँ लेकर मौसम की प्रतिकूलता जब सामने आती है, तो प्राणियों को अत्यधिक कष्ट होता है। वृक्ष-वनस्पतियाँ नष्ट हो जाती हैं और सर्वत्र त्राहि-त्राहि सुनाई पड़ती है। इसके विपरीत यदि मौसम अनुकूल हो, तो आर्थिक और शारीरिक खुशहाली बढ़ने का भरपूर लाभ मिलता है।

सन् १९७१ के अक्टूबर मास में उड़ीसा के समुद्र तट पर तूफान ने जो कहर ढाया, उसकी याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कटक के समीपवर्ती क्षेत्र में उसने ७ हजार व्यक्तियों की बलि देखते-देखते ले ली थी। ६ हजार वर्ग मील में बसी ५० लाख की जनसंख्या को उसने दयनीय दुर्दशा के गर्त में झोंक दिया था। अरबों रुपए की संपत्ति बर्बाद हो गई। सात लाख मकान नष्ट हो

गए। इसके पीछे एक और साथी जुड़ा हुआ था, गनीमत इतनी हुई कि वह पश्चिमी बंगाल की ओर मुड़ गया। अन्यथा वह दूसरा रहा-सहा विनाश पूरा करके उसे सर्वनाश की स्थिति तक पहुँचा देता।

मियामी (फ्लोरिडा) की नेशनल हरीकेन रिसर्च लेबोरेटरी के डायरेक्टर डॉ० सेसिले गेंट्री ने उन प्रयासों पर प्रकाश डाला है, जो समुद्री तूफानों पर किसी कदर नियंत्रण प्राप्त कर सकने में सफल हुए हैं। बादलों पर सूखी बर्फ का चूर्ण गिराकर उन्हें हल्का और दुर्बल बना दिया गया। डॉ० सिंपसन ने सिल्वर आयोडाइड छिड़क कर तूफान को हल्का किया। तूफानों का उठना रोकने तथा दिशा बदलने में तो सफलता नहीं मिली; पर 'सीडिंग' उद्योग शृंखला का यह परिणाम जरूर निकला कि चक्रवातों का वेग ३१ प्रतिशत तक घटाया जा सका। 'विरास' और 'निंबये' उपग्रह इस संदर्भ में इन दिनों कई तरह की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं, ताकि इन सत्यानाशी तूफानों की उच्छृखंलता पर किसी प्रकार नियंत्रण स्थापित किया जा सके।

'साइक्लोन्स-हाउ टू गार्ड अगेंस्ट दैम' पुस्तक में दिए गए विवरणों से विदित होता है कि भारत को समय-समय पर इन समुद्री तूफानों से कितनी क्षति उठानी पड़ती है। १६ अक्टूबर, १९४२ को बंगाल की खाड़ी में १४० मील प्रति घंटा की चाल से एक ऐसा तूफान आया था, जिसने कलकत्ता नगर को झकझोर कर रख दिया। भयंकर वर्षा हुई। ज्वार की लहरों ने २५० वर्ग मील सूखी जमीन को पानी से भर दिया। पानी की ऊँचाई १६ फुट तक जा पहुँची थी। करीब १५ हजार मनुष्य और ६० हजार पशु मरे।

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकंप आदि-आदि की बात छोड़कर केवल आँधी, तूफान की एक विपत्ति पर ही विचार करें, तो प्रतीत होगा कि इस शताब्दी में उससे अति भयावह हानि उठानी पड़ी है। प्रगति के नाम पर हुए उपार्जन का एक बड़ा भाग इन अंधड़ चक्रवातों ने निर्दयतापूर्वक उदरस्थ कर लिया।

इस स्तर के अगणित अंधड़ समुद्री क्षेत्र में इन दिनों आए दिन उठते रहते हैं और वे भारी विनाश उत्पन्न करते हैं। ये अंधड़ प्रायः एक हजार से लेकर दो हजार किलोमीटर क्षेत्र का मौसम उद्विग्न कर देते हैं और अपने विकराल रूप से महाविनाश के लिए आगे बढ़ते हैं। कोई-कोई छोटे या बड़े भी होते हैं। हवा का वेग जब ६० किलोमीटर प्रति घंटे से अधिक हो जाता है, तो उसे तूफान कहते हैं। ८५ किलोमीटर का वेग उग्र तूफान कहा जाता है। यह चक्रवात यदि समुद्र की परिधि में ही उठे और वहीं समाप्त हो जाए, तो उससे उस क्षेत्र के जल-जीवों एवं जलयानों को ही क्षति पहुँचती है, पर यदि वे थल क्षेत्र में घुस पड़ें तो फिर तटवर्ती क्षेत्रों में भयावह विनाशलीला प्रस्तुत करते हैं।

टेलीविजन और इन्फ्रारेड आब्जर्वेशन सैटेलाइट (टाइरोस) यंत्र आकाश में उड़ाकर मौसम संबंधी पूर्व जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न पिछले कई वर्षों से किया जा रहा है। इन उपकरणों ने पिछले दिनों जो जानकारियाँ भेजी हैं, उनसे यह आशा बँधी है कि निकट भविष्य में मौसम के परिवर्तनों की विशेषतया वर्षा एवं आँधी, तूफानों की पूर्व जानकारी प्राप्त की जा सकेगी और उस आधार पर संभावित विपत्ति से बचने के लिए सुरक्षात्मक प्रयत्न कर सकना संभव हो सकेगा।

संसार का मौसम नियंत्रण में रखने के लिए कुछ उपाय वैज्ञानिक जगत् में विचाराधीन हैं। (१) आर्कटिक क्षेत्र की हिम राशि पर कालिख पोत दी जाए, ताकि इससे सौर ऊर्जा पर नियंत्रण करके उत्तरी ध्रुव क्षेत्र को मानवोपयोगी बनाया जा सकेगा। (२) समुद्र में जहाँ से अधिक बादल उठते हैं और अनावश्यक वर्षा करके बर्बादी प्रस्तुत करते हैं, उन क्षेत्रों पर हेक्साडेकानोल जैसे रसायनों की परत जमाकर बादल बनना सीमित कर दिया जाए, ताकि अधिक वर्षा वाले क्षेत्र भी उपजाऊ हो सकें। (३) आर्कटिक क्षेत्र के नीचे धरती खोदकर उसमें १० मेगाटन शक्ति के दस ऐसे हाइड्रोजन बम फोड़े जाएँ, जो विषाक्त विकिरण से रहित हों।

इससे ५ मील मोटा बर्फ का बादल आकाश में छितरा जाएगा और पृथ्वी का मौसम अब की अपेक्षा थोड़ा और गर्म हो जाएगा। (४) बेरिंग मुहाने पर ५५ मील चौड़ा बाँध बनाकर आर्कटिक सागर के ठंडे पानी को प्रशांत महासागर में मिलने से रोक दिया जाए।

सोचा जा रहा है कि यह योजनाएँ बड़ी तो हैं और खर्चीली भी, पर यदि मनुष्य को व्यापक पैमाने पर मौसम का नियंत्रण करना है, तो उतना बड़ा पुरुषार्थ भी करना ही होगा।

आखिर आँधी, तूफान आते क्यों हैं ? उठते कहाँ से हैं ? इनका उद्‌गम स्रोत कहाँ है ? इन प्रश्नों का उत्तर विज्ञान ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है।

कहा गया है कि मौसम के निर्माण एवं परिवर्तन के चार प्रमुख आधार हैं—(१) सूर्य के द्वारा प्रेषित ऊर्जा का वातावरण पर पड़ने वाला प्रभाव। (२) पृथ्वी के भ्रमण मार्ग में प्रस्तुत होते रहने वाले आधार। (३) धरती से उठने वाले और सूर्य से गिरने वाले दबाव की प्रतिक्रिया। (४) भूगर्भी एवं अंतरिक्षीय प्रभावों से उत्पन्न विस्फोटीय उत्तेजना। इन चारों से मिलकर मौसम के उतार-चढ़ाव उत्पन्न होते हैं। सूर्य, वायु, पृथ्वी तथा अंतरिक्ष की स्थिति के अनेकानेक ज्ञात-अविज्ञात कारण मिलकर मौसम का निर्माण करते हैं। कौन ऋतुएँ किन महीनों में होती हैं ? वर्षा, सर्दी, गर्मी के दिन कब होते हैं ? यह मोटी जानकारी ही हमें प्राप्त है। किस अवधि में, क्या घटनाक्रम किस, प्रकार घटित होगा ? इसे ठीक तरह से जान सकना अभी किसी के लिए भी संभव नहीं हुआ है।

पृथ्वी से ६ करोड़ २६ लाख मील दूर बैठा हुआ सूर्य पृथ्वी पर अपनी ऊर्जा का केवल दो अरबवाँ भाग भेजता है, पर वह भी प्रति मिनट २३ अरब हार्स पावर जितना होता है। यह ऊष्मा अत्यधिक प्रचंड है। यदि वह सीधी धरती पर आती, तो यहाँ सब कुछ जल भुन जाता। खैर इसी बात की है कि इस ताप का अधिकांश भाग बादलों, समुद्री, ध्रुवीय हिम शृंखलाओं और वायुमंडल की विभिन्न परतों द्वारा सोख लिया जाता है। यह

अवशोषण भी बहुत संतुलित है। सामान्य धरातल को जो सूर्य ताप प्राप्त होता है, यदि उसमें १३ प्रतिशत और कमी किसी कारण हो जाए, तो फिर सारी पृथ्वी एक मील ऊँची बर्फ की परत से ढक जाएगी।

पश्चिम से पूर्व की ओर ध्वनि वेग से भी अधिक तेजी के साथ घूमती हुई पृथ्वी सूर्यदेव की ६० करोड़ मील लंबी अंडाकार कक्षा में परिक्रमा करती रहती है। उसकी धुरी २३½ डिग्री झुकी हुई है। इससे सूर्य किरणें तिरछी पड़ती हैं। इससे न केवल सौर ऊर्जा में वरन् जलप्रवाहों और हवाओं की संचरण प्रक्रियाओं में भी अंतर पड़ता है। मौसम बदलते रहने का यह भी एक बड़ा कारण है।

पृथ्वी की गति को बदलना—उसकी कक्षा में परिवर्तन लाना—सूर्य को अमुक-अमुक मात्रा में ऊर्जा भेजने के लिए विवश करना आज के तथाकथित विकासमान् विज्ञान को अति कठिन मालूम पड़ता है। इतनी ऊँची बात जाने भी दी जाए और ऐसा भर सोचा जाए कि मौसम की सामयिक परिस्थितियों की ही थोड़ी रोकथाम कर ली जाए, तो वह भी इतना अधिक भारी प्रतीत होता है कि बार-बार उतना कर सकना संभव ही न हो सकेगा।

यदि सारी दुनिया की हवा इच्छानुसार चलाई जाए, तो इसके लिए प्रतिदिन दस लाख परमाणु बम फोड़ने से उत्पन्न हो सकने जितनी शक्ति जुटानी पड़ेगी। समस्त वायुमंडल के तापक्रम में एक अंश सेंटीग्रेड गर्मी और बढ़ानी हो, तो डेढ़ हजार अणुबम फोड़ने होंगे। एक मामूली-सा तूफान रोकना हो, तो उसके लिए एक मेगाटन ऊर्जा की आवश्यकता पड़ेगी। इतनी ऊर्जा जुटाकर प्रकृति से लड़ सकना और उसे वशवर्ती बना सकना विज्ञान के लिए कब और कैसे संभव हो सकेगा, यह कोई नहीं कह सकता।

शरीर का स्वास्थ्य ठीक बनाए रखने के लिए मानसिक स्वास्थ्य को सुधारना आवश्यक है, इस तथ्य पर विज्ञान बहुत दिन बाद अब आकर पहुँचा है। इससे पूर्व शरीर और मानसिक स्वास्थ्य को पृथक्-पृथक् मानकर उनके संबंध में सोचा जाता रहा है। अब

अनेक शोधों ने यह सत्य प्रकट कर दिया है कि शरीर को निरोग रखना हो तो मन का आरोग्य सँभालना आवश्यक है। बिल्कुल यही तथ्य परा और अपरा प्रकृति के संबंध में लागू होता है। विज्ञान की पहुँच जिस स्थूल पृथ्वी तक है, वह सब कुछ नहीं हैं। उसके अंतराल में सूक्ष्म प्रकृति काम करती है, जो चेतना है। उसकी परिशुद्धि इस बात पर निर्भर है कि संसार में सद्भाव संपन्न वातावरण संव्याप्त हो। सतयुग में ऐसी ही स्थिति के फलस्वरूप स्थूल प्रकृति शांत और संतुलित रहती थी और संसार में सुखद प्रकृति-अनुकूलता बनी रहती थी।

स्थूल प्रकृति को अनुकूल बनाने के लिए—मौसम को नियंत्रण में रखने के लिए जितने खर्च की, जितने पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ेगी, उसका लाखवाँ भाग भी यदि सूक्ष्म प्रकृति को शांत-संतुलित रखने के लिए, सदाशयतापूर्ण वातावरण बनाने के प्रयत्न में लगाया जाए, तो मनुष्य पारस्परिक सद्व्यवहार के कारण भी सुखी रहेंगे और प्रकृति भी अनुकूल व्यवहार करेगी। कलियुगी प्रचलन को यदि सतयुग की रीति-नीति में बदला जा सके, तो मौसम ही नहीं, वातावरण का हर भाग बदल जाएगा और विक्षोभ के स्थान पर मंगलमय उल्लास बिखरा दिखाई पड़ेगा। संसार के मूर्धन्य व्यक्ति न जाने क्यों इस तथ्य पर ध्यान नहीं देते ?

❑ ❑

रक्षक आप—भक्षक आप

■

प्रकृति ने अपनी गोद में कितने ही प्रकार के प्राणियों को पाला-पोसा और स्थान दिया है। उनकी कुछ संतानें अपार शारीरिक क्षमता रखती हैं, तो कुछ संतानें ध्वनि के कारण होने वाले कंपन से ही मर जाएँ, इतनी कमजोर होती हैं। सबल-निर्बल, सशक्त-अशक्त, चालाक-भोले यानी कि हर तरह के जीव-जंतु प्रकृति के प्रांगण में मिल जाएँगे, ऐसी स्थिति में उद्धत, शक्तिशाली, निर्बल प्राणियों को जीवित भी न रहने दें, यह संभावना भी बनी रहती है। यदि नियमतः ऐसा ही हो, तो इस संशय में दुर्बल, निर्बल और कमजोरों का जीना भी असंभव हो जाए।

परंतु प्रकृति ने निर्बल प्राणियों को ऐसी विशेषताएँ भी प्रदान कर रखी हैं, जिनसे वे अपनी रक्षा कर सकें और आने वाले संकटों से अपना बचाव कर लें। कई कीड़े-मकोड़े बहुत क्षुद्र और कमजोर होते हैं, इतने कमजोर कि जरा से व्याघात से ही मर जाएँ, लेकिन प्रकृति ने उनके बचाव का भी पूरा-पूरा उपाय कर रखा है। जैसे "वाकिंग स्टिक" एक कीड़ा होता है, जिसका शरीर, हाथ, पैर और रंग किसी सूखी लकड़ी की टहनी की तरह होता है। क्रियाशील अवस्था में कई दुष्ट व मांसाहारी जीव इस पर आक्रमण कर देते हैं और मारकर खा जाते हैं। शत्रुओं से बचने के लिए अंततः उसने इस ईश्वर प्रदत्त जीवन-सत्य को ही माध्यम बनाया है। वह किसी दुश्मन को बढ़ता हुआ देखता है, तो निश्चेष्ट लेट जाता है। शत्रु आता है और देखता है कि जहाँ उसे कीड़ा दिखा था वह तो सूखी लकड़ी है भ्रम हो गया है, यह समझकर वह वहाँ से निराश लौट जाता है। वाकिंग स्टिक की सुरक्षा हो जाती है। अमेरिका में पाया जाने वाला कंगारू इस क्रिया में सबसे अधिक चतुर होता है। दुश्मन को देखते ही वह जमीन में इस प्रकार लेट जाता है, मानो बिल्कुल मर गया हो। जब तक शत्रु दूर रहता है, तब तक तो वह

विधिवत् साँस भी लेता रहता है, आँखें भी अधखुली रखकर चुपचाप देखता रहता है, पर जैसे ही शत्रु पास आया कि उसने आँखें भी बंद कीं और साँस भी। शत्रु आता है, उसे सूँघता है और मरा हुआ समझकर वहाँ से चल देता है। कंगारू प्रसन्नतापूर्वक उठता है और अपने काम से लग जाता है।

बाहरी शत्रुओं से तो किसी प्रकार रक्षा की भी जा सकती है, आंतरिक शत्रुओं से विजय पाना सबसे अधिक दुःसाध्य रहा है। शरीररूपी गुफा, जिसमें जीवात्मा रहता है और मनुष्य को यह गुफा भगवान् ने इसलिए दी थी कि वह उसमें सुरक्षापूर्वक रहकर आत्म-कल्याण और लोकमंगल की आवश्यकता पूरी करेगा। उसी में ६ भयंकर शत्रु और अनेक छोटे-छोटे दुश्मन भी आ बैठे। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर यह प्रबल शत्रु मनुष्य की शक्ति निचोड़ते, मित्रता और प्रेमपूर्वक रहने न देकर अपने ही लोगों से लड़ाते-भिड़ाते रहते, शोषण, छल-कपट और न जाने कैसी-कैसी दुष्टता की प्रेरणा देते रहते हैं। मनुष्य को उनसे बचना भारी पड़ता है, कोई उपाय कारगर नहीं होता। जब यह शत्रु प्रबल हो उठते हैं, उनसे रक्षा के उपाय प्रकृति के इन कलाकारों से सीखना चाहिए।

उदाहरण के लिए कभी कामवासना का वेग सताए अथवा किसी के प्रति शत्रुता हो और अहंकारवश प्रतिशोध की भावना भड़क उठे, उस समय वाकिंग स्टिक और कंगारू के समान निश्चेष्ट लेट जाइए और अनुभव करिए आपकी मृत्यु हो गई। आपका प्राण शरीर छोड़कर बाहर खड़ा है और देख रहा है—यह शरीर, यह इंद्रियाँ जिनके विषय बड़े सुंदर और सुखद प्रतीत होते थे, उनमें कितनी गंदगी और दुर्गंध भरी है। यह मनुष्य शरीर किसी बड़े काम के लिए मिला था, पर उसका दुरुपयोग हुआ, शक्तियाँ इंद्रिय भोग और बखेड़ों में खर्च कर दीं—इस तरह के विचार कुछ देर तक इतनी गंभीरता से उठाएँ, मानो आप सचमुच मर गए हों। उस क्षण की कल्पना आप में वैराग्य भर देगी, आप बुराई से बच जाएँगे।

जीव शास्त्र में इन क्रियाओं को मादृश्यता (मिमिक्री) कहते हैं। डॉ० बेटसन व फ्रिट्ज मुलर ने जीवों की इन अद्‌भुत क्रियाओं पर गहन अनुसंधान किए और ऐसे सैकड़ों उदाहरण देकर जीवों की प्रकृति के रोमांचक पृष्ठ खोले, पर इनका सर्वोत्तम लाभ मानव जाति को इन प्रेरणाओं के रूप में ही मिल सकता है। समुद्र के किनारे क्रिप्टो लिथोडस नामक एक केकड़ा पाया जाता है। इनके शरीर की ऊपरी सतह कठोर होती है और रंग श्वेत। कोई दुश्मन आया और ये सतह पर बिछे कंकड़-पत्थरों के बीच जा लेटे। उस समय कोई पास जाए, तो यही समझेगा कि कोई पत्थर पड़ा है। केकड़ा कुछ बोल नहीं रहा होगा, पर उसकी यह कला कह रही होगी—मनुष्य ! यदि तू भी अपने शरीर को कंकड़, पत्थर, मिट्‌टी, पानी का समझता और मानता कि इसमें निवास करने वाली जीवात्मा ही रक्षा और विव [illegible] के योग्य है, तो यह—मानस शत्रु जो हर घड़ी तुम्हारी शक्तियों को खा जाने की ताक में बैठे रहते हैं, धोखा खा जाते और तेरे पास आकर भी तेरा कुछ बिगाड़ नहीं पाते।

शत्रुओं से सुरक्षा के कोई एक-दो उपाय ही नहीं, सैकड़ों योजनाएँ इन प्रकृति के कलाकारों से सीखी और प्रयोग में लाई जा सकती हैं। उदाहरण के लिए एक कीड़ा होता है, जिसे "लीफ इंसेक्ट" कहते हैं। इसका रंग हरी पत्तियों की तरह हरा होता है, शत्रु को देखते ही यह हरी पत्तियों के बीच बैठ जाता है। शत्रु आता है, तो उसे पत्तियाँ मिलती हैं, फिर तो उसे वहाँ से निराश ही लौटना पड़ता है। कैलिमा नामक तितली फूल-पत्तियों के आकार से इतनी मिलती-जुलती होती है कि उसको पहचानना कठिन हो जाता है। उसके पिछले पंख तने और आगे वाली पत्तियों के आकार के होते हैं। शत्रु को देखते ही यह किसी फूल वाले पौधे की मोटी शाखा को अपने पिछले पंखों से स्पर्श कराकर बैठ जाती है। तब देखने से ऐसा लगता है कि किसी तने पर दो पत्तियाँ उगी हों। शत्रु धोखा खाकर चला जाता है।

तितलियों की एक जाति ऐसी होती है, जिनका मांस कड़ुआ और जहरीला होता है। उन्हें कोई भी जीव खाना पसंद नहीं करता, पर कुछ तितलियों को खाने वाले भी सैकड़ों शत्रु तैयार रहते हैं। स्वास्थ्य, खूबसूरत होने पर कामवासना के प्रवाह अधिक टकराते हैं, पैसा हो तो अपव्यय और अहंकार की दुष्प्रवृत्तियाँ घेर सकती हैं, शरीर में बल हो तो ही बदमाशी सूझती है, जब कभी ऐसे अवसर आएँ तब कामवासना से जर्जरित व्यक्तियों के दुर्बल शरीर और वृद्ध लोगों के टूटे शरीरों की कल्पना करके उसी प्रकार बचा जा सकता है, जिस तरह गौतम बुद्ध उनसे बच गए थे और अपना जीवन पुण्य-परमार्थ और लोक-सेवा में उत्सर्ग कर दिया था। अहंकार आए तो कंस, रावण, जरासंध, लोभ आए तो हिरण्यकशिपु की दुर्दशा, मोह सताए तो सैकड़ों बच्चे लिए फिरने वाली सुअरिया की कल्पना करके उनसे बचा और सँभला जा सकता है। किसी भी घृणित विचार को उसके दुष्परिणाम के चिंतन से काटने की कला आ जाए, तो मनुष्य न केवल उस दुष्प्रभाव से बच सकता है वरन् आत्म कल्याण की दिशा में भी तेजी से अग्रसर हो सकता है।

इतने पर भी बुराइयों को शत्रु न मानें, तो उन्हें डराना, धमकाना और मारकर भगाना भी नीति संगत तथ्य है। अमेरिका में जहरीले साँपों की एक ऐसी जाति पाई जाती है, जिसका रंग बहुत ही चमकदार होता है। उसी क्षेत्र में कुछ साँप ऐसे होते हैं, जिनमें कोई जहर नहीं होता। इनको जब कभी किसी शत्रु से मुकाबला पड़ जाता है, तो यह अपनी आकृति-प्रकृति जहरीले साँपों जैसी बना लेते हैं। शत्रु डरकर भाग जाते हैं और इस तरह उनकी रक्षा हो जाती है। हमारे मन में भी ऐसे साहसपूर्ण शक्तिशाली विचार जाग जाएँ, तो बुरे विचारों को डाँटकर-मारकर भगाया जा सकता है।

इस तरह इन जीवों की निश्चेष्ट करने की क्रियाएँ, अच्छे विचारों से बुरे विचार काटने की क्रियाएँ सीखकर आंतरिक शत्रुओं से बचा जा सकता है। गुणों का विकास किया जा सकता है और

आत्म-कल्याण के अवरोधों को दूर कर सुख-शांति का जीवन भी जिया जा सकता है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर के रूप में जो षड्रिपु गिनाए गए हैं, उनमें कामवासना सर्वाधिक भयंकर होती है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा यह मनुष्य को ही अधिक सताती है या मनुष्य स्वयं ही इस रिपु के सामने आत्मसमर्पण कर देता है, स्वयं उसके जाल में जा फँसता है। यह विचार नहीं किया जाता कि कामवासना की क्रीड़ा-केलि में उलझे रहने के कारण अपनी ही शक्तियों का आत्यंतिक क्षरण होता है और क्षण भर के क्षुद्र आनंद के लिए अपने आपको बर्बाद करना पड़ता है।

अन्यथा संकट प्रस्तुत है

कामवासना का क्षुद्र आनंद के लिए उपयोग न केवल मनुष्य के लिए वरन् उन प्राणियों के लिए भी घातक होता है, जो कामुक होते हैं।

प्रकृति-पर्यवेक्षण से पता चलता है कि अल्पजीवी प्राणी अधिक कामुक होते है तथा वे सहवास भी अधिक करते हैं, जबकि दीर्घजीवी प्राणियों में सहवास की आवृत्ति में एक बड़ा अंतराल रहता है। वे वर्ष में एक निश्चित अवधि में ही यौन-जीवन जीते हैं। शेष समय में दांपत्य प्रेम तो उनमें गहरा रहता है, पर यौन-क्षुधा नहीं होती। इसी तरह दुर्बल जीवों में अधिक संतति होती है, जबकि सशक्त प्राणियों में कम संतानें होती हैं।

छोटी-छोटी मछलियाँ लाखों, करोड़ों की संख्या में अंडे देती हैं। काड मछली चार लाख अंडों का प्रजनन करती है, तो सनफिश तीन करोड़, जबकि विशालकाय व्हेल तथा डालफिन अंडे नहीं देती, उनके सीमित जीवित बच्चे पैदा होते हैं। शार्क मछली अपने ही पेट में अंडे सेती और फिर शिशु को जन्म देती है। मक्खियाँ भी बहुत अंडे देती हैं और एक मक्खी की कुल उम्र ३० दिन होती है। मादा चमगादड़ वर्ष में सिर्फ एक बच्चा देती है।

हाथी भी वर्ष में एक बार ही समागम करता है और कई हाथी तो लंबे अरसे तक सहवास नहीं कर पाते, क्योंकि किसी भी समूह की सभी हथिनियों का स्वामी सरदार हाथी ही होता है। हाथी की संतान भी कम होती हैं।

गाय, बैल, भैंस, घोड़े आदि सभी सशक्त प्राणियों में संततिक्रम सीमित है। कम संतान जनने वाले हाथी और ह्वेल सौ-सौ वर्ष जीते हैं। शेर चालीस वर्ष, घोड़ा तीस, गाय पच्चीस, कुत्ता पंद्रह, बकरे-बकरी पंद्रह वर्ष जीते हैं, जबकि छोटी मछलियाँ और छोटे पशु अल्प अवधि तक जीते हैं। जो प्राणी जितने अधिक और जितनी जल्दी बच्चे उत्पन्न करता हो, तो समझना चाहिए कि वह उतनी ही कम आयु प्राप्त कर सकेगा और उतना ही दुर्बल बनकर रहेगा।

नर-नारी प्रेम तथा एकनिष्ठता की प्रवृत्ति कई पशु-पक्षियों में देखी जाती है।

'स्क्विड' नामक एक रेंगने वाला कीड़ा सैकड़ों मादाओं में भी अपनी प्रियतमा को पहचान लेता है। दूसरों की ओर वह कभी भी नहीं देखता।

बतखों का दांपत्य-प्रेम अत्यंत प्रखर होता है। थोड़े-से क्षणों का भी बिछोह वे सह नहीं पाते। साथी आँख से ओझल हुआ कि व्याकुलता से उसे खोजने लगते हैं।

योरोप में गोहों की कुछ जातियाँ हैं, जो जीवन में एक ही बार हम सफर चुनती हैं। विधवा या विधुर गोह, दूसरे गोह को देखकर उस पर आक्रमण कर बैठती है। प्यार कभी दुबारा नहीं करतीं।

कबूतर कट्टर पतिव्रती एवं पत्नीव्रती होते हैं।

कुछ मछलियाँ भी प्रेम प्रसंग के बाद ही विवाह करती हैं। ऐसी मछलियाँ झीलों या शांत गति वाली नदियों में ही पाई जाती हैं। ये मछलियाँ सदैव एकनिष्ठ होती हैं।

दांपत्य जीवन का अर्थ है—स्नेह, सद्भावपूर्वक सहचरत्व का निर्वाह किया जाए। सद्भाव संपन्न प्राणियों में प्रायः यही प्रवृत्ति पाई

जाती है। इस आधार को अपनाने पर उनका दापत्य-जीवन सुखी, संतुष्ट रहता है, किंतु जहाँ कामलोलुपता ही प्रधान है, वहाँ सघन निष्ठा का अंत हो जाता है और कुचक्र का दौर चल पड़ता है। बहुपत्नी प्रथा या बहुपति प्रथा दोनों ही समान रूप से अनावश्यक एवं अवांछनीय हैं। जहाँ कहीं यह दौर चल रहा होगा, वहाँ कलह, संघर्ष एवं संकटग्रस्त वातावरण बना रहेगा। प्राणि जगत् में इस बहुवादी-लोलुपता की प्रतिक्रिया कुत्तों में, हिरनों में, हाथी, सील आदि में देखी जा सकती है।

बहु-पत्नी वाद का सर्वाधिक दुष्परिणाम 'सील' नामक मछली में देखने को मिलता है। ये उत्तरी ध्रुव के हिमानी क्षेत्र में होते हैं।

व्यवस्था-संतुलन काम विकार में भी

कामोत्तेजना क्या है ? इस संदर्भ में कवि और कलाकार कुछ भी कहते रहें, विज्ञानियों की दृष्टि में यह एक रासायनिक उत्तेजना मात्र है। कोई मादा जब गर्भ धारण के योग्य अपने आंतरिक अवयवों को पुष्ट कर लेती है, तो उसमें से एक प्रकार का विशेष स्राव निकलता है, यह वायु के साथ गंध रूप में मिल जाता है और हवा में उड़कर नरों की संतानोत्पादन चेतना को चुनौती देता है। वे इस अदृश्य आंतरिक हलचल से उत्तेजित हो उठते हैं और मादा की आवश्यकता पूरी करने के लिए धर दौड़ते हैं। इसी प्रकरण को कामोत्तेजना के रूप में देखा-समझा जा सकता है। मादा के अंतःस्राव जैसे ही बंद हो जाते हैं, नरों की उत्तेजनाएँ भी समाप्त हो जाती हैं और वे फिर होश-हवास के सौम्य सदाचार की ओर वापस लौट जाते हैं।

छोटे जीव संतानोत्पादन की उपयोगिता नहीं समझते, इसलिए उनको वंश नष्ट हो जाने का खतरा रहता है। प्रकृति ने इस स्थिति को न आने देने के लिए उनके शरीर में एक गंध आवेग यौनाकर्षी रस के रूप में उत्पन्न किया है। मादा के शरीर में समयानुसार जब यह मादक गंध उत्पन्न होती है, तो वे प्रकृति की प्रेरणा को पूरा करने के लिए आतुर हो उठते हैं और जैसे ही

गुदगुदी उत्पन्न करने वाले संकेत बंद होते हैं, नशा उतर जाता है। इस प्रकार प्रकृति उनसे अपनी वंश-वृद्धि का प्रयोजन पूरा करा लेती है और वे अनायास ही जनक-जननी बनने की भूमिका संपादित कर बैठते हैं।

मनुष्य की स्थिति इससे ऊपर है। इसीलिए प्रकृति ने उन्हें गंध-आवेग से उत्तेजित होने का अवसर नहीं दिया है। तरुणी नारी के शरीर से भी अन्य जीवों की तरह यौनाकर्षी रसायनों की गंध निकलती होगी, पर वह मानवी विवेक से टकराकर हतप्रभ ही हो जाती है और वह बहिन, बेटी आदि की मर्यादाओं का पालन करता हुआ जोड़ा बनाने से पूर्व हजार बार यह विचार करता है कि गृहस्थ के उत्तरदायित्व को निबाहने की क्षमता उसमें है कि नहीं ? या फिर साथी का चयन करने में किन तथ्यों का ध्यान रखा जाए ? संतानोत्पादन की संख्या निर्धारण करने में भी उसे विवेक से काम लेना पड़ता है। यही है मनुष्य और पशु के बीच का विवेकजन्य अंतर।

पिछड़े हुए जीव, मात्र रासायनिक गंध-उत्तेजना के आवेग से संतानोत्पादन करने में जुट जाते हैं, न साथी का चुनाव करने की कोई कसौटी उनके पास होती है और न संतान के लालन-पालन के लिए अपनी योग्यता-उपयुक्तता देखने की उनमें क्षमता होती है। मनुष्य भी यदि उसी स्तर का बन जाए, तो उसकी विवेकशीलता और बुद्धिमानी का कोई महत्त्व ही न रह जाएगा।

प्राणियों की रासायनिक गंध किन्हीं आवेशों से उत्तेजित करके काम-क्रीड़ा में प्रवृत्ति कर देती है। उनके स्तर को देखते हुए यह उचित भी हो सकता है, पर मनुष्य के कर्तव्य और उत्तरदायित्व तो बहुत अधिक बढ़े-चढ़े हैं, इसीलिए प्रकृति ने उसे गंध-उत्तेजना के आवेगों से बच सकने और विवेक सम्मत रीति-नीति अपना सकने के योग्य रखा है, जबकि अन्य प्राणी एक प्रकार से बाध्य और विवश हैं।

कामोत्तेजना से प्राणियों के समस्त शरीर में आवेश उत्पन्न होता है और उनकी विविध विधि गतिविधियाँ ऐसी उभरती हैं, जिन्हें

उन्मत्तता की संज्ञा दी जा सकती है। भँवीरी और डेयजल मक्खी की उड़ान सीधी-साधी न रहकर कलाबाजी जैसी बन जाती है और लगता है, वह कोई नृत्य अभिनय कर रही है। केटिटिड साइक्डा और झींगुर जिन दिनों मदमस्त होती हैं, उन दिनों उनकी झंकार में नए किस्म का स्वर और मिठास होता है।

मकड़ी, मछली और रेप्टाइल्स जैसे जंतुओं की भाँति मेंटिस नामक टिड्डा मादा भी बड़ी और जबरदस्त होती है, नर मेंटिस अपेक्षाकृत छोटा भी होता है और कमजोर भी। नर के लिए संभोग-क्रिया उसका मृत्यु संदेश ही सिद्ध होती है। मादा द्वारा उत्तेजित किए जाने पर वह डरता, सहमता उसके पास जाता है और धरती पर सिर रखकर आत्म समर्पण की मुद्रा में खड़ा हो जाता है। मादा उसे कसकर पकड़ लेती है कि वह छूटकर भाग न सके। गर्भाधान में मादा को ही देर तक पूरा श्रम करना पड़ता है, अस्तु वह थक भी जाती है, भूखी भी होती है। तब उसे निखट्टू नर को ही चट कर जाने की बात सूझती है और वह विहार के बाद आहार का साधन भी उसी को बनाकर समाप्त कर देती है। नर मेंटिस जीवन में प्रायः एक ही सुहागरात देख पाते हैं।

बोनिला पक्षी नर को आजीवन मादा का दास बनकर रहना पड़ता है। भोजन जुटाने का काम मादा करती है, इसके बदले बच्चों के लालन-पालन का भार उसे ही वहन करना पड़ता है। हिपोकेंपस, पाइपफिश और फोटोकोरिनस मछलियाँ इतनी दबंग होती हैं कि जिस नर को वशवर्ती बना लेती हैं, उससे दास जैसा व्यवहार करती हैं।

कामोत्तेजना को प्रकाश के रूप में परिणत किया जा सकता है। जुगनू जैसे कीटकों में यह प्रकाश चमक के रूप में मनोरम दीखने और सुहावना लगने तक ही सीमित रहता है, पर वह मनुष्य द्वारा तो ओजस् शक्ति में विकसित किया जा सकता है और उससे सर्वतोमुखी समर्थता विकसित करने का लाभ लिया जा सकता है।

जुगनू की चमक, टिमटिमाहट कितनी मोहक होती है ? रात के अंधकार में जब वह छोटे तारों की तरह उड़ते-चमकते दिखाई पड़ते हैं, तो लगता है वह आकाश से उतरकर धरती पर खेलने लगा हो।

जुगनू की चमक क्या है ? जुगनू की पूँछ के पास तीन पदार्थ भरे होते हैं। लूसीफरिन रसायन द्रव, लूसीफरेस ऐंजाइम एडी, नोसिन ट्राइफास्फेट यौगिक—इन तीनों का सम्मिश्रण चमक उत्पन्न करता है, पर करता तभी है जब उसे एक विशेष प्रकार की मानसिक उत्तेजना होती है। जीव-विज्ञानी कहते हैं कि यह कामोत्तेजना ही है, जो इन रसायनों को चमक में बदल देती है। इस उत्तेजना के अभाव में जुगनू उड़ते तो रहते हैं, पर चमकते नहीं।

जुगनू में पाए जाने वाले लूसीफरिन और लूसीफरेस रसायन मनुष्यों में भी पाए जाते हैं। उनके द्वारा शारीरिक और मानसिक अनेक क्रिया-प्रक्रियाएँ संपन्न होती हैं, चमक भी पैदा होती है, पर होती तभी है, जब उनके साथ भावनात्मक उत्तेजना का संपर्क हो। जीव विज्ञानी कहते हैं कि जुगनू के लिए उतनी तीव्र उत्तेजना जो उसके रसायनों को चमका सके, केवल कामोत्तेजना ही हो सकती है। आहार आदि की सामान्य आवश्यकताएँ उस स्तर की नहीं होतीं, जो उसे चमकने की स्थिति में ला सकें। मादा जुगनू जब रतिसंयोग के लिए उद्विग्न होती है और नर जुगनू जब उसके पीछे-पीछे मनुहार करते हुए चक्कर लगाते हैं, तभी उनकी पूँछ चमकती है और मनोरम दृश्य दिखाई पड़ते हैं।

प्रकृति ने मनुष्य को विवेक दिया है और अन्य कीटकों की तरह गंध आवेशों के कारण उन्मत्त हो उठने की दुर्बलता से मुक्त रखा है। इसके पीछे नियति का यही उद्देश्य काम कर रहा है कि वह अपने भीतर भरी हुई अति महत्त्वपूर्ण शक्ति को आवेशग्रस्तता में बर्बाद न करें। प्रजनन प्रकरण में अति सतर्कता बरतें और मानवोचित आदर्श की प्रतिष्ठापना करें। विवेक हमें वस्तु-स्थिति

समझाता है कि कामोद्वेग और कुछ नहीं, मात्र जड़-पदार्थों में रासायनिक द्रव्यों द्वारा उत्पन्न की जाने वाली उत्तेजना मात्र है। कुछ रसायन मनुष्य पर बेतरह हावी हो जाएँ और उसे कठपुतली की तरह नाच नचाकर अधःपतन के गर्त में धकेलें, यह किसी प्रकार शोभनीय नहीं।

कर्तव्य की गरिमा—सामान्य की महिमा

देखने, नापने और तौलने में छोटा-सा लगने वाला मस्तिष्क, जादुई क्षमताओं और गतिविधियों से भरा-पूरा है। उसमें प्रायः पंद्रह अरब स्नायु-कोष हैं। इनमें प्रत्येक की अपनी दुनिया, अपनी विशेषता और अपनी संभावनाएँ हैं; वे प्रायः अपना अभ्यस्त काम निपटाने भर में दक्ष होते हैं। उनकी अधिकांश क्षमता प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती है। काम न मिलने पर हर चीज निरर्थक रहती है। इसी प्रकार इन कोषों से दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ पूरा कर सकने के लिए आवश्यक थोड़ा-सा काम कर लिया जाता है, तो उतना ही करने में वे दक्ष रहते हैं। यदि अवसर मिला होता, उन्हें उभारा और प्रशिक्षित किया गया होता, तो वे अब की अपेक्षा लाखों गुनी क्षमता प्रदर्शित कर सके होते। अलादीन के चिराग की कहानी कल्पित हो सकती है, पर अपना मस्तिष्क सचमुच जादुई चिराग सिद्ध होता है।

मस्तिष्क का आकार बढ़ने के पीछे वह क्रमिक विकास है, जो पूर्वजों की तुलना में आज के मस्तिष्क की स्थिति में हो चुका है। अब से कोई छह लाख वर्ष पूर्व मनुष्य का आदि पूर्वज कहा जा सकने वाला पुच्छ विहीन-वानर 'एप्स' था। उसके मस्तिष्क का आकार ६२० से ६५० घन सेंटीमीटर था। इसके बाद अधिक विकसित नर-वानर 'पिथेकैंथ्रोपस' के मस्तिष्क का आयतन ८०० से ९०० घन सेंटीमीटर था। आधुनिक मनुष्य का मस्तिष्क आयतन १४०० घन से० मी० है। यही क्रम बुद्धि विकास के साथ-साथ आगे भी चलता रहेगा और हमारी पीढ़ियाँ अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत मस्तिष्क वाली होंगी। पर यह आवश्यक नहीं कि खोपड़ी में भरे हुए

भार की भी वृद्धि हो जाए। वह हल्का रह सकता है, किंतु उसकी संवेदन कणिकाएँ अधिक जटिल एवं सूक्ष्म हो जाएँगी। वजन की दृष्टि में संसार के महामनीषियों के मस्तिष्क का भार हाथी के मस्तिष्क के समतुल्य अथवा कम था, तो भी वे हाथी से कहीं अधिक बुद्धिमान् थे। वायरन का मस्तिष्क २२३६ ग्राम, तुर्गनेव का २०१२ ग्राम, शिलर का १८७१ ग्राम, पावलोव का १६५८ ग्राम और अनातोले फ्रांस का १०१७ ग्राम था, जबकि हाथी का औसतन २००० ग्राम होता है।

मानवी मस्तिष्क बड़ा विचित्र है। उसकी सूक्ष्म एवं जटिल संरचना अद्‌भुत है। यह बारीकियाँ आमतौर से प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती हैं। आमतौर से उनका ४ प्रतिशत भाग ही काम आता है और ६६ प्रतिशत मूर्च्छित पड़ा रहता है। इस प्रसुप्त भाग में से जो जितना अधिक अंश जाग्रत् कर लेता है, वह उतना ही अधिक बुद्धिमान् बन जाता है। भविष्य में मानवी मस्तिष्क के इस सूक्ष्म भाग का अधिक मात्रा में जागरण होगा। इससे उसका आयतन तो बढ़ेगा, पर भार नहीं बढ़ेगा।

न्यूरोलॉजी—मस्तिष्क विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क के बाहरी धूसर पदार्थ—ग्रे मैटर में तंत्रिका कोशिकाओं (न्यूरान्स) की संख्या करीब १७ अरब है। अनुमस्तिष्क सेरिबेलम में १२० अरब और मेरुदंड में १ करोड़ ३५ लाख तंत्रिकाएँ इसके अतिरिक्त हैं। इनके साथ-साथ ग्लाया स्तर की करीब एक खरब लघु कोशिकाएँ इन न्यूरान्स की सहेली बनकर और रहती हैं। इनके मिलन स्थल को तंत्रिका बंध, न्यूरोग्लाया—कहते हैं। इन सबका सम्मिश्रित प्रयास ही मस्तिष्कीय चेतना है। इतना सूक्ष्म, सही और सक्रिय कंप्यूटर संसार में अब तक नहीं बना और न भविष्य में बनने की संभावना है, जैसा कि मानवी मस्तिष्क है।

इन बातों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि मस्तिष्क, मात्र रासायनिक पदार्थों से बना मांस पिंड नहीं है। यदि ऐसा प्रतीत होता तो उसके भार-विस्तार के अनुपात से उसकी क्षमता घटती-बढ़ती।

हाथी और ह्वेल के मस्तिष्क विस्तार में बड़े होते हुए भी उस सूक्ष्म संरचना की दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं, जो मनुष्य को उपलब्ध है।

भीतरी मस्तिष्क के चारों ओर दो काले रंग की पट्टियाँ लपटी हुई हैं, इन्हें 'टेंपोरल कॉरटेक्स' कहते हैं। इनका क्षेत्रफल लगभग २५ वर्ग इंच और मोटाई एक इच का दसवाँ भाग होता है। इनका स्थान कनपटियों के ठीक नीचे है। स्मृति का संचय और नियमन इन्हीं से होता है।

मस्तिष्क के शल्य चिकित्सक डॉ० विल्डर पेन फील्ड ने इन पट्टियों की ढूँढ़-खोज की है और वे मुद्दतों पुरानी ऐसी स्मृतियों को जाग्रत् करने में सफल हुए हैं, जिन्हें सामान्य या उपेक्षणीय कहा जा सकता है। महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालने वाली घटनाएँ तो प्रायः याद रहती हैं, पर जो दैनिक जीवन में ऐसे ही आँखों के सामने से गुजरती रहती हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं माना जाता। वे विस्मृति के गर्त में जा पड़ती हैं। पुरानी हो जाने पर उन्हें याद कर सकना संभव नहीं होता, फिर भी वे पूर्णतया विस्मृत नहीं कही जा सकतीं। वे 'टेंपोरेल कॉरटेक्स' पट्टियों के पुराने परत स्पर्श करने से जाग्रत् हो सकती हैं। डॉ० बिल्डर ने कितने ही व्यक्तियों के मस्तिष्क के मर्मस्थलों का विद्युत् धारा से स्पर्श करके निरर्थक घटनाक्रमों को स्मरण कराने में सफलता प्राप्त की है।

स्मरण शक्ति की विलक्षणता को ही लें, वह कई व्यक्तियों में इतनी अधिक मात्रा में विकसित पाई जाती है कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। लिथुयानिया का रैवी ऐलिजा दो हजार पुस्तकें कंठाग्र रखने के लिए प्रसिद्ध था। कितनी ही बार उलट-पुलट कर उसकी परीक्षा की गई और वह सदा खरा उतरा। फ्रांस का राजनेता लिआन गैंवाटा को विक्टर ह्यूगो की रचनाएँ बहुत पसंद थीं। उनमें से उसने हजारों संदर्भ के पृष्ठ याद कर रखे थे और उन्हें आवश्यकतानुसार धड़ल्ले के साथ घंटों दुहराता रहता था।

इसमें एक भी शब्द आगे-पीछे नहीं होता था। पृष्ठ संख्या तक वह सही-सही बताता चलता था।

ग्रीक विद्वान् रिचार्ड पोरसन को भी पढ़ी हुई पुस्तकें महीनों याद रहती थीं। जो उसने आज पढ़ा है, उसे एक महीने तक कभी भी पूछा जा सकता था और वे उसे ऐसे सुनाते थे, मानो अभी-अभी रटकर आए हों। शतरंज का जादूगर नाम से प्रख्यात अमेरिकी नागरिक हैरी नेलसन पिल्सवरी एक साथ बीस शतरंज खिलाड़ियों की चाल को स्मरण रखकर उनका मार्गदर्शन करता था। यह सब काम पूरी मुस्तैदी और फुर्ती से चलता था। बीसों खिलाड़ी उसका मार्गदर्शन पाते और खेल की तेजी बनाए रखते थे। प्रशा जर्मनी का लायब्रेरियन मैथुरिन बेसिरे दूसरों के कहे शब्दों की हूबहू पुनरावृत्ति कर देता था। जिन भाषाओं का उसे ज्ञान नहीं था, उनमें वार्तालाप करने वालों की बिना चूक नकल उतार देने की उसे अद्भुत शक्ति थी। एक बार बारह भाषा-भाषी लोगों ने अपनी बोली में साथियों से वार्तालाप किए। मैथुरिन ने क्रमशः बारहों के वार्तालाप को यथावत् दुहराकर सुना दिया। बरमान्ष का आठ वर्षीय बालक जेरा कोलबर्न गणित के अति कठिन प्रश्न को बिना कागज-कलम का सहारा लिए मौखिक रूप से हल कर देता था। लंदन के गणितज्ञों के सम्मुख उसने अपनी अद्भुत प्रतिभा का प्रदर्शन करके सबको चकित कर दिया था। हंबर्ग निवासी जॉन मार्टिन डेस भी अति कठिन गणित प्रश्नों को मौखिक रूप से हल करने में प्रसिद्ध था। उन दिनों उसके दिमाग की गणित क्षमता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि आज के गणित कंप्यूटर भी उससे प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते थे।

मस्तिष्क की अद्भुत क्षमताएँ यह बतलाती हैं कि संसार में ज्ञान-नाम्नी चेतना सत्ता ही सबसे विलक्षण तत्त्व है। उस पर ध्यान एकाग्र करके ही संसार की यथार्थता का अवगाहन किया जा सकता है। कबीर ने कभी कलम और स्याही नहीं छुई, ज्ञान स्वरूप की आराधना से वह कवियों के कवि हो गए। होमर और सुकरात

पश्चिम के दो महान् लेखक और दार्शनिक जिन्होंने न जाने कितने काव्य और लेख लिखे। इसे इतिहास की अद्‌भुत घटना ही कहेंगे कि उन्होंने न कहीं पढ़ा और न ही अपनी रचनाओं को लिखा। मस्तिष्क में ही बनाते और मस्तिष्क में ही लिख लेते। लंबे से लंबा पद वे जब चाहे, वही अक्षर ज्यों का त्यों दुहरा देते, जबकि दूसरे लोग उन्हें कागज पर लिख-लिखकर महीनों तक रटते तो भी अधिक से अधिक ५० प्रतिशत ही याद कर पाते।

हनावा होकीची जापान के मुसाशी प्रांत का रहने वाला व्यक्ति सात वर्ष की आयु में अंधा हो गया था, किंतु उसने अपना जीवन उच्च कोटि के विद्वानों को इकट्‌ठा कर उन्हें पढ़ने में बिताया। उसने स्वयं सुनकर पढ़ा था और अपनी बौद्धिक क्षमता को इतना प्रखर बनाया था कि ४,००,००० हस्तलिपि की विषय सूची तैयार कर सकता था। उसने एक ऐसी पुस्तक संकलित की, जिसके २८२० खंड हैं। ऐसी विशाल पुस्तक आज तक दुनिया में किसी ने भी नहीं लिखी। उसने वागाक्से में एक स्कूल भी खोला, जिसमें जापानी साहित्य पढ़ाया करता था। कहते हैं वह अँधेरे में पढ़ सकता था, इस तरह अपनी मस्तिष्कीय चेतना को प्रकाश-तत्त्व के रूप में सिद्ध कर दिया था।

मस्तिष्कीय क्षमताओं का अभ्यास द्वारा विकास किया जा सकता है, किंतु मस्तिष्क इतना जटिल है कि उसके अनोखेपन, उसकी बीमारियों को ठीक कर पाना विज्ञान के हाथ नहीं लग रहा है। कुछ घटनाएँ अवश्य ऐसी घट जाती हैं, जो अच्छे खासे विज्ञानवेत्ताओं को भी हैरत में डाल देती हैं। उदाहरण के लिए हंगरी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक, जिनका जन्म सन् १७६१ में हुआ। श्री काउंट स्टवाअ जेचेनवी पागल हो गए। डॉक्टरों को कोई भी इलाज, उपचार नजर न आया। किसी ने मजाक में कह दिया, इन्हें शतरंज खेलने में लगा दो। एक युवक खोजा गया, जो जेचेनवी के साथ शतरंज खेलने को राजी हो गया। ६ वर्ष तक बेचारा शतरंज खेला भी, किंतु इन ६ वर्षों में ही कुछ ऐसा क्रम-फेर हुआ कि

जेचेनवी तो अच्छे हो गए, पर वह युवक पागल हो गया और फिर कभी अच्छा नहीं हुआ। हवा में उड़कर पागलपन एक मस्तिष्क से दूसरे में कैसे चला गया, वैज्ञानिक उस रहस्य को नहीं समझ सके, तो उन्हें भी यही कहते बना—भगवान् का अद्‌भुत खेल वही जाने, मनुष्य उसे कहाँ तक समझ सकता है ?

मस्तिष्क की अनोखी हलचलों का विश्लेषण अणु-जैविकी—'मोलीक्यूलर बायोलाजी' के आधार पर करते हुए स्वीडन की गोटनवर्ग यूनिवर्सिटी के जीव विज्ञानी होल्गार हाइडेन इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मस्तिष्क को दक्ष बनाने वाले शिक्षण एवं चिंतन कार्य कोशिकाओं में महत्त्वपूर्ण रासायनिक पदार्थों की मात्रा बढ़ा देते हैं और वे अधिक संवेदनशील बनकर बुद्धिमत्ता का क्षेत्र विस्तार करती हैं। केलिफोर्निया यूनिवर्सिटी के डॉ० सेमुअल बार्नाडेस अपनी शोधों के आधार पर मस्तिष्क में काम करने वाली बिजली की अपेक्षा कोशिकाओं की रासायनिक स्थिति को अधिक श्रेय देते हैं। स्मृति का आधार वे उस अवयव को पोषण देने वाले प्रोटीनों की रासायनिक स्थिति को देते हैं। यह स्थिति घटती-बढ़ती और बदलती रहती है।

मस्तिष्कीय विकास, मात्र उस शिक्षण पर निर्भर नहीं, जो स्कूलों में या समीपवर्ती लोगों से मिलता है। वह जानकारी बढ़ाना मात्र है। बलिष्ठ मस्तिष्कों की विद्युत् शक्ति का प्रवाह यदि दुर्बल मस्तिष्कों की ओर मुड़ जाए, तो उनकी तीक्ष्णता में भारी परिवर्तन हो सकता है और उसका परिचय विशेष प्रोटीनों की मात्रा की वृद्धि के रूप में सहज ही देखा जा सकता है। मस्तिष्कीय पोषण के लिए सुविकसित चेतना संपन्न मनस्वी लोगों का सान्निध्य अत्यंत उपयोगी है। उनकी बढ़ी-चढ़ी प्राण शक्ति दुर्बल मनःचेतना की अभाव पूर्ति कर सकती है। प्रयोगशालाओं में मामूली बिजली को कुछ विशेष कोष्ठकों में पहुँचाकर प्राणियों की प्रकृति कुछ समय के लिए बदलना संभव हो सकता है। प्रतिभाशाली लोगों का प्राण—दुर्बल

मनःस्थिति को बदलने में स्थायी उपचार का प्रयोजन पूरा कर सकता है।

येल निवासी मस्तिष्क विज्ञानी डॉ० जोजे डेलगाडो ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया है कि मस्तिष्क में बाहर से बिजली पहुँचाकर उसके कार्य केंद्रों को उद्दीप्त एवं प्रसुप्त किया जा सकता है। तदनुसार उस प्राणी को इच्छित कार्य कराने और आज्ञा पालन के लिए विवश किया जा सकता है।

डॉ० जोजे ने अपने प्रयोगों की सार्वजनिक प्रदर्शनी करके दर्शकों को आश्चर्यचकित कर दिया। उनके हाथ में एक विद्युत् संचालक था और कुछ प्राणियों की खोपड़ी पर अमुक स्थान एवं अमुक संख्या में इलेक्ट्रोड लगा रखे गए थे। इस प्रकार यंत्र और प्राणी के बीच रेडियो संपर्क स्थापित हुआ। प्रेरित सूचनाओं के अनुसार प्राणी ऐसे काम करने लगे, जो उनकी सामान्य प्रवृत्ति के विपरीत था। नम्र प्राणी उद्धत हो उठे और उद्धत प्रकृति वाले पूर्ण शांत होकर एक कोने में जा बैठे। साँड़, बंदर, कुत्ते, चूहे, बिल्ली आदि प्राणियों ने इस विद्युत् संचार प्रणाली से प्रभावित होकर वे काम किए, जिसकी आशा प्रदर्शन में उपस्थित जनता ने कभी भी नहीं की थी।

मनुष्यों पर भी यह प्रयोग किए गए हैं और उनकी इच्छा-शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति पर नियंत्रण करके अमुक प्रकार सोचने और अमुक प्रकार काम करने को उन्हें विवश कर दिया गया है। सम्मोहन क्रिया के वशीकरण में परिणति के लिए अब किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किए गए प्रयोगों की अपेक्षा नहीं की जाती, यह कार्य इलेक्ट्रॉनिक्स यंत्रों से ही संपन्न हो जाता है। अभी यह प्रयोग इसी सीमा तक सफल हुए हैं कि जब तक प्रयोग चलता रहे, तब तक व्यक्ति वशवर्ती रहे, पीड़ा अनुभव न करे अथवा अन्य प्रकार उससे अनुशासन पालन कराया जा सके। प्रयोग की पकड़ ढीली होते ही वह पुनः अपनी पिछली स्थिति में चला जाता है और अभ्यस्त स्तर के आचरण करने लगता है। तूलां

विश्वविद्यालय के डॉ० राबर्ट हीथ ने ऐसा यंत्र बनाया है, जिसकी सहायता से वह आवश्यकतानुसार अपने मस्तिष्क की अमुक कार्य-क्षमता को एक सीमा तक स्वयं नियंत्रित कर सकता है।

शरीर व्यवस्था का नियंत्रण केंद्र

मस्तिष्क के निचले भाग में मटर के दाने के बराबर लटकी हुई पीयूष ग्रंथि से निकलने वाले हारमोन गोनेडोट्रोफिक का ही कमाल है कि वह साधारण किशोरियों को नवयुवती के रूप में परिणत करने वाले सारे साधन अनायास ही जुटा देता है।

गोनेडोट्रोफिक रक्त में मिलकर अंडाशय को जाग्रत् करता है और उस जागृति के फलस्वरूप वहाँ एक नए हारमोन 'एस्ट्रोजन' की उत्पत्ति होने लगती है। एक दिन में उसकी मात्रा चीनी के दाने के हजारवें भाग की बराबर नगण्य जितनी होती है, पर उतने से ही प्रजनन अवयवों का द्रुतगति से विकास होता है और प्रायः दो वर्ष पूर्व की किशोरी, युवती के सभी चिह्नों से सुसज्जित हो जाती है।

अंडाशय यों प्रायः ४ लाख कोशिकाओं का बना होता है, पर उसमें से ४-५ सौ ही विकसित होकर अंड बनता है। ग्यारह से लेकर चौदह वर्ष की आयु में क्रमशः एक-एक अंड विकसित होता है। उसके आधार पर प्रायः २८वें दिन रजो धर्म होने लगता है। जो तीन से लेकर आठ दिन तक स्रवित होता रहता है। वाशिंगटन विश्वविद्यालय के डॉ० एडगर एलन तथा एडवर्ड ए० डौजी ने पीयूष ग्रंथि के प्रभाव से अंडाशय में उत्पन्न होने वाली ऐसी अनेक संवेदनाओं का पता लगाया है, जो यौन आकांक्षाओं के उतार-चढ़ाव के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका उत्पन्न करती हैं। उनके प्रभाव से मस्तिष्क और प्रजनन अंगों में ऐसी उत्तेजना उत्पन्न होती है, जिसके कारण यौन आकांक्षा में तीव्रता, मंदता अथवा मध्यवर्ती स्थिति बनी रहती है। दोष अथवा श्रेय प्रजनन अंगों की संरचना को दिया जाता है, पर इन मानसिक संवेदनाओं के पीछे वस्तुतः पीयूष ग्रंथि का सूत्र संचालन ही काम करता है।

पीयूष ग्रंथि का एक हारमोन है—प्रोलेक्टिव। यह स्तनों को प्रभावित करता है, उनका विस्तार करता है एवं दुग्ध उत्पादन प्रणाली को गतिशील बनाता है। इसकी न्यूनता रहे, तो स्तनों का विकास नहीं होगा और दुग्ध का उत्पादन भी स्वल्प ही होगा।

यदि पीयूष ग्रंथि में थोड़ी-सी खराबी रह जाए और एस्ट्रोन तथा प्रोजेस्टेरोन हारमोन समुचित मात्रा में न बने, तो अंड का विकास न हो सकेगा और नारी बंध्या ही बनी रहेगी। गर्भाशय की स्थानीय खराबी से तो बहुत ही कम संख्या में संतानरहित रहती हैं। वे खराबियाँ तो मामूली उपचार से ठीक हो जाती हैं, पर पीयूष ग्रंथि के किसी अंग के अविकसित रहने पर हारमोन उपचार ही सफल हो सकता है। नपुंसकता नर की हो या नारी की, प्रधानतया पीयूष ग्रंथि की खराबी के कारण ही होती है। जननेंद्रिय की स्थानीय कमी वासना अथवा प्रजनन को अधिक प्रभावित नहीं करती। संतान के प्रति माता का प्यार क्यों कम या ज्यादा पाया जाता है, इसका स्रोत भी पीयूष ग्रंथि से स्रवित होने वाले प्रोलेक्टिन हारमोन में पाया गया है।

पिछले दिनों यौन संवेदना को मनःशास्त्रियों ने मनुष्य की प्रेरक शक्ति माना था और कहा था कि मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्थान, पतन इसी केंद्र से होता है। शूर, साहसी, कायर, निराश, प्रसन्न, दुःखी, आदर्शवादी, ईश्वर भक्त, अपराधी, अविकसित स्तर का निर्माण इसी केंद्र से होता है, पर अब नया सिद्धांत कायम हुआ है कि हारमोन ही यौन संवेदनाओं के लिए उत्तरदायी है। अब सबसे जटिल प्रश्न यह उत्पन्न हुआ है कि यह हारमोन किससे नियंत्रित होते हैं, उनके स्रावों में उतार-चढ़ाव कौन लाता है ?

इस अनबूझ पहेली का समाधान शरीर और मस्तिष्क की समस्त संरचना की उलट-पुलट कर डालने पर भी खोजा न जा सकेगा। इसका आधार ढूँढ़ने पर यह जीव-चेतना के साथ जुड़े हुए जन्म-जन्मांतरों के संग्रहीत संस्कारों एवं उसकी प्रबल संकल्प शक्ति में ही मिलेगा। जीव सत्ता का स्वतंत्र अस्तित्व मानने में अभी जो हिचकिचाहट विज्ञान के क्षेत्र में चल रही है, उस पर से अगले

दिनों पर्दा उठने ही वाला है। जीव-चेतना का, अपना स्वतंत्र अस्तित्व और उसकी भावनात्मक, चिंतनात्मक, अभ्यस्त प्रवृत्तियों की संपदा से सुसज्जित होना जब मान लिया जायेगा, तो इस प्रश्न का समाधान होगा कि हारमोन ग्रंथियों से निकलने वाले अत्यंत स्वल्प किंतु अत्यंत शक्तिशाली स्रावों की न्यूनाधिकता जो विभिन्न व्यक्तियों में पाई जाती है, उसका कारण क्या है ? और उनमें कुछ परिवर्तन करना हो, तो उसके लिए ताला खोलने की चाबी कहाँ मिलेगी ? जीवन का स्वतंत्र अस्तित्व शरीर में ऊपर भी विद्यमान है और उसकी अपनी उपार्जित विभूतियाँ भी रहती हैं, यह मान लेने पर हारमोन अन्वेषण में जो गतिरोध इन दिनों उत्पन्न हो गया है, उससे इस प्रश्नवाचक चिह्न का सहज समाधान निकल आयेगा।

शरीर—एक कोशा समाज

बहुत दिन तक पृथ्वी में केवल विवेक और ज्ञानशून्य पशुओं और जीव-जंतुओं का बाहुल्य रहा। इनमें शक्ति थी, ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ थीं, किंतु विवेक और विचार नहीं था। इसलिए यह सबके सब अपनी-अपनी मनमानी करते थे। एक-दूसरे को मारकर खा जाते थे। जो अधिक शक्तिशाली होता था, वही समाज का मुखिया होता था और उसकी अंतिम इच्छा ही न्याय होती थी। शक्तिशाली किंतु विचारहीन के हाथ सत्ता होने से उसका दुरुपयोग होना स्वाभाविक था। उससे पशु-प्रवृत्ति वाले संसार में सर्वत्र अशांति छा गई। तब भगवान् ने मनुष्य शरीर पैदा किया, उसे बुद्धि और विचार भी दिए और यह विश्वास किया कि अब संसार में शांति और सुव्यवस्था स्थापित की जा सकेगी।

मनुष्य पशु-योनियों से विकसित हुआ है। इसलिए पूर्व संस्कार एवं पाशविक वृत्तियाँ भी निश्चित रूप से भड़कीं और उनकी पूर्ति का औचित्य ठहराने के लिए उसने उपयोगितावाद जैसे भ्रांत सिद्धांत का आश्रय लिया। यह देखकर ही ऋषियों ने ऐसी व्यवस्था बनाई थी कि मनुष्य इन पशुप्रवृत्तियों से अपने आपको विलग माने और यह अनुभव करे कि अन्य जीवों की तुलना में उसे अधिक साधन और सुविधाएँ

मिली हैं। यह आत्मकल्याण और प्राणिमात्र की व्यवस्था के लिए मिली हैं। अपनी क्षमताओं का उपयोग इस तरह करना चाहिए, जिससे अपना विकास भी हो सकता हो और सामाजिक शांति एवं सुव्यवस्था भी अक्षुण्ण रह सकती हो। वर्णाश्रम संस्कृति की स्थापना मनुष्य-समाज को उपयोगितावाद जैसी भ्रांत धारणा से बचाने का ही एक वैज्ञानिक उपाय था। यह व्यवस्था ईश्वरीय आदेश की तरह है। विश्व-शांति के लिए उसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय भी नहीं है।

सहयोग और सामूहिकता को ईश्वरीय आदेश या आत्मा की आवश्यकता मानने का कारण हमारे सामने स्पष्टतया हमारा शरीर है। भगवान् बोलता नहीं, लिखकर भी कुछ बात समझाता नहीं, पर उपयोगिता के विपरीत उसने अपने आदेशों को अनुबंध अवश्य किया है। मनुष्य-शरीर की रचना और उनकी क्रिया-प्रणाली (एनोटॉमी एंड फिजियोलॉजी) वह उत्तर है, जिससे उपयोगितावाद का खंडन किया जा सकता है।

शरीर एक समाज है। ऐसा समाज जिसमें अनेक गुण, प्रकृति, कर्म एवं स्वभाव वाले लोग निवास करते हैं। यों पृथ्वी एक है, पर उसमें रहने वाले जितने भी मनुष्य हैं, वह सब अलग-अलग प्रकृति और स्वभाव के हैं। ठीक उसी प्रकार शरीर एक है, पर उसमें कई अरब जीव-कोष (सेल्स) पाए जाते हैं। वह सबके सब अनेक तरह के गुण, कर्म और स्वभाव वाले हैं, तो भी शरीर जगत् के सारे प्राणी और उनके समाज परस्पर इस तरह व्यवहार करते हैं कि शरीर में कहीं भी किसी तरह का गतिरोध, अव्यवस्था एवं कलह उत्पन्न नहीं होती। जब तक सारे जीव-कोष सहयोग और सामूहिकता के नियम का पालन करते रहते हैं, सारा शरीर प्रसन्नतापूर्वक अपने कार्य में जुटा रहता है। इस व्यवस्था में उपयोगितावाद को प्रश्रय मिल गया होता, तो मनुष्य का एक महीने जीवित रहना कठिन हो जाता। जिस स्थान के कोष सशक्त होते और दूसरे कमजोर कोषों को खाते चले जाते तो मनुष्य शरीर कुछ क्षणों में ही धराशायी हो जाता।

मनुष्य में इतना विवेक नहीं कि वह यह अनुभव करे कि हम एक ही पितामह की संतान परस्पर भाई-भाई हैं और इसलिए हम सजातीय हैं। जीव-कोष बताते हैं कि अनेक समाज, संस्कृति और राष्ट्रों में विभक्त मनुष्य दरअसल एक ही माता प्रकृति और पिता परमात्मा के पुत्र हैं। यदि इस मान्यता को स्वीकार कर लिया गया होता, तो परस्पर उसी तरह का प्रेम, स्नेह, सहयोग, सौजन्य, उदारता, बुद्धिमत्ता, दया, करुणा, ममता, समता और कर्तव्यभावना का विकास हुआ होता, जिस तरह मनुष्य-शरीर में छोटे-छोटे कोष (सेल्स) व्यवहार करते और शरीर-समाज की व्यवस्था को संतुलित बनाए रखते हैं। यदि विश्व-शांति, समृद्धि और कल्याण की भावना को जीवित रखना हो, तो हमें उन्हीं आदर्शों का पालन करना होगा।

मनुष्य-शरीर के सभी कोष चाहे वह पैर में हों या पेट में और मुख में एक कोष से पैदा हुए हैं। प्रारंभ में स्त्री के 'ओवम' में एक ही जीव-कोष (स्पर्म) प्रविष्ट हुआ था। उसी से अनेक कोषों वाला शरीर अस्तित्व में आया था। शरीर में जितने कोष हैं, वह सब अपने को भाई-भाई मानते हैं और उनके जितने भी समाज बने हैं, सब परस्पर सहयोग, सहानुभूति, दया, करुणा, उदारता का पालन करते हैं।

शरीर का कोई भी कोष बिना खाद्य के जीवित नहीं रह सकता। ऑक्सीजन ही वह खाद्य है, जो रक्त द्वारा शरीर के संपूर्ण भागों में पहुँचता और प्राण-संचार करता है। रक्त पैदा करना, सफाई करना और संग्रह करना हृदय का काम है। उसके लिए वह जीवन भर क्रियाशील रहता है। हृदय एक क्षण भी रुकता नहीं। उदार मनुष्य उसी तरह एक क्षण भी विश्राम किए बिना सोते-जागते हृदय के समान तप करके अपनी शक्ति बढ़ाते रहते हैं और उस संचित शक्ति या तप से सारे समाज को जीवन-दान देते रहते हैं, यदि उपयोगितावाद का सिद्धांत सच रहा होता, तो हृदय अपने रक्त की एक बूँद भी औरों को न देता। अपने लिए तो वह बहुत थोड़ा लेता है, शेष सारा का सारा समाज को दे देता है, इसलिए हृदय बड़ा है, पूज्य है, सम्माननीय है। यदि वह इस तरह आत्म-त्याग न करता, तो शरीर कैसे जिंदा रहता ?

शरीर रचनाशास्त्र (एनाटॉमी) का एक बहुश्रुत सिद्धात है—"एनक्सिया ऑफ ब्रेन", जिसका अर्थ है यदि मनुष्य को ३ मिनट तक रक्त न मिले, तो उसका तुरंत अंत हो जाए। मस्तिष्क के मर जाने का अर्थ है—शरीर का मर जाना। उसी प्रकार मांसपेशियों को रक्त न मिले, तो वह मर (गैंगरीन) जाती हैं। कारोनरी आर्टरिज को रक्त न मिले तो दिल का दौरा आ जाता है, रेटिनल आर्टरिज को रक्त न पहुँचे तो दीखना बंद हो जाता है। आँतें, जिगर, फेंफड़े, मांसपेशियाँ शरीर का कोई ऐसा हिस्सा नहीं, जिसे रक्त का उचित वितरण न होता हो। इससे सिद्ध होता है कि साधनों का एक स्थान पर संग्रह (स्टोर) नहीं होना चाहिए, वरन् उन्हें क्रियाशील रहना चाहिए। सामाजिक जीवन में जहाँ भी साधनों का उदारतापूर्वक वितरण होता रहता है, वहाँ व्यवस्था रहती है, शांति और प्रसन्नता बनी रहती है, पर जहाँ ऐसा नहीं होता, किसी स्थान को साधनों का मिलना बंद कर दिया जाता है, तो शरीर के समान उसका दुष्प्रभाव सारी मनुष्य जाति को भुगतना पड़ता है।

साधनों का वितरण समान रूप से नहीं किया जा सकता। आवश्यकता और कार्य का स्वरूप देखना पड़ता है, जो ज्यादा महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं, उन्हें अधिक अधिकार, साधन और सुविधाएँ देनी ही पड़ती हैं, उनकी तुलना में जो कम महत्त्व का स्थूल कार्य करते हैं। शरीर में ज्ञान का, चेतना का महत्त्व सबसे अधिक है। व्यवस्थापक ही न रहे, तो व्यवस्था कहाँ रहेगी ? मकान मालिक ही न हो, तो मकान कहाँ सुरक्षित रह सकता है ? व्यवस्थापक को, मकान मालिक को अधिक महत्त्व देने की तरह ही शरीर में ज्ञान वाले भाग की भी अधिक देख-रेख की आवश्यकता है। शरीर में यह व्यवस्था है। हृदय की बाईं ओर (लेफ्ट वैंट्रिकिल) सबसे बड़ी धमनी (ए-ऑर्टा) निकलती है और सबसे शुद्ध रक्त का सबसे शुद्ध भाग कैरोटेड एवं इनामिटेड धमनी द्वारा होकर वर्टिब्रल आर्टरिज में पहुँचता है। यहाँ से सेरीब्रल आर्टरिज में वह शुद्ध रक्त पहुँचकर सारे शरीर को पोषण प्रदान करता है। मस्तिष्क में जितना

शुद्ध रक्त पहुँचता रहता है, उतना ही शरीर निषेधात्मक आवेग (निगेटिव इंपल्सेज) जैसे क्रोध, चिड़चिड़ापन, भय, आतुरता, आलस्य से बचा रहता है और प्रसन्नता एवं दीर्घ जीवन बना रहता है। इससे यह पता चलता है कि जिस समाज में उन बुद्धिजीवियों को, जो लोगों को सद्ज्ञान और सत्कर्मों की प्रेरणा देते रहते हैं, पर्याप्त पोषण मिलता रहता है, वहाँ सुख और शांति बनी रहती है। जीवन और प्राण बना रहता है।

समाज की सुरक्षा का प्रश्न द्वितीय है। पोषण अनिवार्य रूप से मिले, पर समाज को बाहरी आक्रमणों से बचाना भी आवश्यक है। ऐसे वर्ग को जो शांति और सुव्यवस्था की रक्षा करते हैं, क्षत्रिय कहते हैं और उन्हें द्वितीय श्रेणी का शुद्ध रक्त दिया जाता है। हाथ शरीर की रक्षा करते हैं। उन्हें अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक सक्रिय रहना पड़ता है, यह समझकर ही हृदय उन्हें सबक्वेरियन आर्ट्रीज द्वारा द्वितीय श्रेणी का रक्त प्रदान करता है। उसमें भेद-भाव नहीं। आवश्यकता को ही प्राथमिकता दी गई है।

तीसरे नंबर पर शरीर के वे निर्बल भाग पेट, पैर आदि आते हैं। इन्हें डिसेंडिंग ए-ऑर्टा से रक्त पहुँचाया जाता है। उन्हें आवश्यकतानुसार मात्रा तो अधिक दी जाती हैं, पर उसकी शुद्धता दोनों से कम होती है।

समाज में एक शूद्र वर्ग भी होता है। शूद्र का अर्थ कोई जाति नहीं। विभाग सभी कर्मानुसार हैं। ब्राह्मण वह है, जो बुद्धिजीवी ही नहीं-सच्चरित्र और परमार्थी भी हैं। क्षत्रिय वह है, जो समाज की बुरे तत्त्वों से रक्षा करता है, जो अपने स्वार्थों को तो थोड़ा अधिक देखता है, पर समाज के पोषण का कार्य ईमानदारी से करता है। शूद्र वह है, जो सद्गुण रहित है। यद्यपि वह हानिकारक है, पर त्याज्य नहीं। उसका भी उपयोग करना चाहिए, यह शिक्षा हमें अपने शरीर रूपी समाज में मिलती है।

सारे शरीर में प्रयोग के बाद रक्त में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है। प्लाज्मा वही बना रहता है अर्थात् श्वेताणु (व्हाइट ब्लड

कॉर्पसल्स) एवं लाल-अणु (रेड ब्लड कॉर्पसल्स) की मात्रा वही रहती है, केवल शुद्धता नष्ट हो जाती है। ऐसे रक्त को शिराओं द्वारा लौटाकर हृदय में पहुँचाने की व्यवस्था की गई है। शिराओं में कुछ वाल्व लगे होते हैं। वह रक्त को नीचे नहीं जाने देते, दूसरे फेफड़ों में से साँस निकलने के बाद वायु-शून्यता (वैक्युम) उत्पन्न होने से भी रक्त ऊपर की ओर दौड़ने लगता है। मांसपेशियों के दबाव के द्वारा भी अशुद्ध रक्त हृदय की ओर बढ़ता है। तात्पर्य यह है कि समाज में फैल रही गंदगी और कुरीति का सब तरफ से ऐसा सामना करना चाहिए, जिससे उसे शुद्ध और उपयोगी बनाया जा सके। ऐसा नहीं होता तो समाज विशृंखलित होने लगते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह शरीर में अशुद्ध रक्त न लौटे, तो बीमारी (कन्जेस्टिव कार्डियक फेल्योर) हो जाती है और हाथ-पैर में सूजन, फेंफड़ों में बलगम इकट्ठा हो जाता है। दिल बड़ा (डाइलेटेड) और कमजोर हो जाता है।

साधनों का अभेद वितरण, आवश्यकतानुसार वितरण और समाज में गुणों की दृष्टि से शुद्धीकरण का क्रम जहाँ शरीर की भाँति चलता रहता है, वहाँ स्थिर, शांति और सुव्यवस्था बनी रहती है। शरीर उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी आधार पर ही ऋषियों ने वर्णाश्रम संस्कृति का ढाँचा तैयार किया था। सारा समाज अपने-अपने कर्तव्यों का पालन किस प्रकार करे ? इसका निर्धारण भी उन्होंने शरीर के विभिन्न अवयवों की कार्य प्रणाली का अध्ययन करके किया था। उसमें भी भेदभाव का नाम नहीं है। सामाजिक व्यवस्था को ही वहाँ भी प्रमुख स्थान दिया गया है। साम्यवाद और उपयोगितावाद का यह मिला-जुला रूप ही इस पृथ्वी में स्थायी शांति का आधार हो सकता है। इसमें व्यक्ति को उदार और त्यागी होना पड़ता है, सामाजिक उपयोगिता को ध्यान में रखकर सर्व हित-परायण, कर्तव्यपरायण होना पड़ता है।

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।

: युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य- संक्षिप्त परिचय :

ज्यादा जानकारी यहाँ से प्राप्त करें : http://hindi.awgp.org/about_us

- **विचारक्रान्ति अभियान के प्रणेता** : विचारों को परिस्कृत और ऊँचा उथाने मे समर्थ 3000 से भी अधिक पुस्तकों के लेखन के माध्यम से विश्वव्यापी विचार क्रान्ति अभियान की शरुआत की ।
- **वेद, पुराण, उपनिषद के प्रसिद्ध भाष्यकार** : जिन्हों ने चारों वेद, 108 उपनिषद, षड दर्शन, 20 स्मृतियाँ एवं 18 पुराणों का युगानुकूल भाष्य किया, साथ ही 19 वाँ प्रज्ञा पुराण की रचना भी की ।
- **3000 से अधिक पुस्तकों के लेखक** : मनुष्य को देवता समान, घर-परिवार को स्वर्ग, समाज को सभ्य और समग्र विश्वराष्ट्र को श्रेष्ठ बनाने मे समर्थ हजारों पुस्तकें लिखकर समयानुकूल समर्थ मार्गदर्शन प्रदान किया ।
- **युग-निर्माण योजना के सूत्रधार** : जिन्होंने शतसूत्री युग निर्माण योजना बनाकर नये युग की आधार शिला रखी ।
- **वैज्ञानिक-अध्यात्मवाद के प्रणेता** : जिन्हों ने धर्म और विज्ञान के समन्वय की प्रथम प्रयोगशाला 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' स्थापित कर सिद्ध किया कि "धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं, पुरक है "।
- **'२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' के उद्घोषक** : जिन्हों ने '२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' का नारा दिया तथा युग विभीषिकाओं से भयग्रस्त मनुष्यता को नये युग के आगमन का संदेश दिया ।
- **स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सैनानी** : जिन्हों ने महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय, गुरुवर रविन्द्रनाथ टैगोर के साथ राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया एवं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी "श्रीराम मत्त" के रुप में प्रख्यात हुए ।
- **गायत्री के सिद्ध साधक** : जिन्हों ने गायत्री और यज्ञ को रुढियों और पाखण्ड से मुक्त कर जन-जन की उपासना का आधार तथा सद्बुद्धि एवं सतकर्म जागरण का माध्यम बनाया ।
- **तपस्वी** : जिन्होंने गायत्री की कठोरतम साधना कर २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरण २४ वर्षो में सम्पन्न किया । प्रकृति प्रकोप को शांत कर अनिष्टों को टाला, सृजन सम्भावनाओं को साकार किया ।
- **अखिल विश्व गायत्री परिवार के जनक** : जिन्हों ने अपने जीवनकाल में ही अपने साथ करोडों लोगों को आत्मियता के सूत्र में बाँधकर विश्व व्यापी 'युग निर्माण परिवार' - 'गायत्री परिवार' का गठन किया ।
- **समाज सुधारक** : जिन्हों ने नारी जागरण, व्यसन मुक्ति, आदर्श विवाह, जाति-पाँति प्रथा तथा परंपरागत रुढियों की समाप्ति हेतु अद्भूत प्रयास किए एवं एक आदर्श स्वरुप समाज में प्रस्तुत किया ।
- **ऋषि परम्परा के उद्धारक** : जिन्हों ने इस युग में महान ऋषियों की महान परंपराओं की पुनर्स्थापना की । लुप्तप्राय संस्कार परंपरा को पुनर्जीवित कर जन-जन को अवगत कराया ।
- **अवतारी चेतना** : जिन्होंने "धरती पर स्वर्ग के अवतरण और मनुष्य में देवत्व के जागरण" की अवतारी घोषणा को अपना जीवन लक्ष्य बनाया और चेतना का ऐसा प्रवाह चलाया कि करोंडों व्यक्ति उस ओर चल पड़े ।

गायत्री परिवार जीवन जीने कि कला के, संस्कृति के आदर्श सिद्धांतों के आधार पर परिवार,समाज,राष्ट्र युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों का संघ है। **वसुधैवकुटुम्बकम्** की मान्यता के आदर्श का अनुकरण करते हुये हमारी प्राचीन ऋषि परम्परा का विस्तार करने वाला समूह है गायत्री परिवार। एक संत, सुधारक, लेखक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और दूरदर्शी युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा स्थापित यह मिशन युग के परिवर्तन के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभरा है।